

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 7 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2009

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. लड़ाकू पत्रकारिता से बिकाऊ पड़ाव पर रामबहादुर राय	11
2. चीन की लुडमन गुहाओं में आचार्य रघुवीर	16
3. हक्कानिया मदरसे में कुछ दिन जेफरी गोल्डबर्ग अनु. शंकर शरण	23
4. उपन्यास का वर्तमान और नई संवेद्यता पुष्पपाल सिंह	43
5. काव्य की तात्त्विकता से साक्षात् करते कवि श्री नरेश मेहता कैलाशचन्द्र पन्त	54
6. गांधीवाद की पूर्व पीठिका का निर्माण किया था प्रो. पूरन सिंह ने महीप सिंह	61
7. 'हिन्द स्वराज' का काम्य : सर्जकों और चिन्तकों से विचार-साम्य पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	67
8. भाषा और संस्कृति श्रीरंजन सूरिदेव	78
9. विश्व में सर्वाधिक बोली/समझी जानेवाली भाषा : एक शोध रिपोर्ट 2009 जयंती प्रसाद नौटियाल	84
10. मुक्तिबोध की युग चेतना बच्चा यादव	94
11. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक दृष्टि कविता सुरभि	103
पाठकीय प्रतिक्रिया	117

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

छोटे मन की राजनीति एवं भारतीय उपमहादेश की समस्याएँ

भारतीय उपमहादेश की बहुत सारी समस्याएँ हमारे राजनीतिकों के छोटे मन एवं उनकी अदूरदर्शिता से उपजी समस्याएँ हैं। श्री लंका की तमिल समस्या की जड़ में वहाँ की सिंहल-बहुल राजनीति द्वारा तमिल हितों की अनदेखी, उनकी भाषा को मिलने वाला उचित स्थान एवं सम्मान का लगातार नकारा जाना रहा। परिणाम हम देख चुके हैं। एक लम्बे समय तक चलने वाला गृह युद्ध; हजारों निरीह बड़े-बूढ़ों, औरतों, बच्चों की असमय मौत, विकास का ठप्प हो जाना।

आज नेपाल वही सब दुहराने जा रहा है, जो श्री लंका में हुआ। उस देश के उपराष्ट्रपति परमानन्द झा के शपथ-ग्रहण को नेपाल के सर्वोच्च न्यायलय ने इसलिए अवैध घोषित कर दिया है क्योंकि उन्होंने अपना शपथ हिन्दी में लिया था। उपराष्ट्रपति दुबारा नेपाली भाषा में शपथ-ग्रहण करने से मना कर गये हैं। गतिरोध जारी है। तराई एवं पहाड़ के बीच तनाव की स्थिति बनती जा रही है। प्रश्न उठता है कि आखिर नेपाल अपने ही देश के मधेशियों और उनकी भाषा हिन्दी के साथ लगातार भेदभाव क्यों कर रहा है? आखिर ऐसा कब तक चलता रहेगा? क्या नेपाल की अदूरदर्शी राजनीति, भाषा के नाम पर जो श्री लंका या पाकिस्तान में हुआबंगलादेश के निर्माण का एक कारक पाकिस्तान के नेतृत्व द्वारा पूर्वी पाकिस्तान पर उर्दू लादने का प्रयास भी रहा है उससे सबक सीखेगी?

हिन्दी के विषय में नेपाल के राजनीतिकों को निम्नलिखित कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। पहली बात यह कि मधेशियों की भाषा होने से हिन्दी उसी तरह नेपाल की एक भाषा है जैसे दार्जिलिंग एवं सिक्किम में बोली जानेवाली नेपाली भारत की। दूसरी, नेपाली एवं हिन्दी परस्पर घनिष्टता से जुड़ी भगिनि भाषाएँ हैं। राजनीति को इस बहु-आयामी जुड़ाव को कमजोर करने या तोड़ने के गलत कार्य में संलग्न नहीं होना चाहिए। नेपाली एवं हिन्दी का जुड़ाव लिपि, साहित्य एवं भाषायी स्तर पर ही नहीं जन जन के स्तर पर भी रहा है। तीसरी बात, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, वह यह है कि हिन्दी हिमालय के पर्वतीय क्षेत्रों में दूसरी भाषाओं के साथ लगातार प्रयुक्त होती रही है।

बीम्स ने हिन्दी भाषा के तुलनात्मक व्याकरण में नेपाली को हिन्दी की बोली मानकर उसका हिन्दी के साथ ही अध्ययन प्रस्तुत किया था। बी.पी. कोइराला, नेपाल के भूतपूर्व प्रधानमंत्री, नेपाली भाषा के साहित्यकार भी रहे हैं। उल्लेख्य है कि उनकी पहली कहानी 'अतिथि' हिन्दी में थी, जिसे प्रेमचन्द ने 1934 में हंस में प्रकाशित किया था। बाद में सूर्य विक्रम ज्ञवाली के आग्रह पर उन्होंने नेपाली में लिखना शुरू किया और उनकी पन्द्रह-बीस नेपाली कहानियाँ दार्जिलिंग की 'शारदा' पत्रिका में छपी, इनमें

पहली कहानी 'इन्द्रावदन' थी। आजादी के पहले तक हिन्दी हिमालयी क्षेत्र को शेष भारत की जनता से जोड़ने की कड़ी बनी रही जो कड़ी आजादी के बाद धीरे-धीरे कमजोर होती गयी।

भूटान में भी जोङ्खा (भूटान की तिब्बती) भाषा के साथ हिन्दी का प्रयोग होता रहा। द्वितीय भूटान-नरेश (द्रुक ग्यालपो) जिम्मे बांग्चुक ने 13 मार्च 1927 को अपने राज्यारोहण के समय अपना भाषण हिन्दी में पढ़ा था। वे हिन्दी के साथ थोड़ी अंग्रेजी भी जानते थे। प्रथम भूटान नरेश द्वारा स्थापित दो स्कूलों में, जो 'बुमथांग' एवं 'ह' में अवस्थित थे, हिन्दी एवं अंग्रेजी की पढ़ाई साथ साथ होती थी। बुमथांग के स्कूल में, जो बाद में केवल हिन्दी स्कूल बन गया, राजकुमार एवं जनसाधारण के बच्चे साथ साथ पढ़ाई करते थे। भूटान के दूसरे महाराजा अपने हाथ से ही हिन्दी में पत्र लिखते थे और अंग्रेजी में हस्ताक्षर करते थे। वैसे तिब्बती में भी उनका पत्र-व्यवहार होता था, जिसमें पत्रों का अंग्रेजी अनुवाद संलग्न रहा करता था। उनके हिन्दी में लिखे दो पत्र धर्मयुग (वर्ष 31, अंक 34; 18 दिसम्बर 1983, पृष्ठ 51) में अवधेश (प्रो. ए.सी. सिन्हा, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय) के लेख में छपे थे, जो नीचे दिए जा रहे हैं। दोनों ही पत्र गंगटोक (सिक्किम) स्थित अंग्रेज राजनीतिक अधिकारी कर्नल बेली को लिखे गये थे।

महाराजा द्वारा लिखा गया पत्र:

टोंगसा जोंग, भूटान

8-5-1930

“मेरे प्रिय मित्र कर्नल बेली को मेरा हर दिन का अति प्रेमी नमस्कार पहुँचे। आपने डाक से भेजा हुआ दोनों चिट्ठी पाया और आप और आपके मेम के कुशल मंगल का हाल सुन कर आनंद की सीमा न रहा। और खास करके वहां के ऐसे साफ वर्णन जिसे पढ़ कर आप स्वयं ही से भेंट हुआ के ऐसा अत्यंत आनंदित हुआ। बहुत बहुत धन्यवाद।

“आपने मेरे स्वर्गीय बाप और उसके कर्मचारियों का फोटो जो लड़ाई के वक्त टीबेट (1904) में थे, भेजा था, उसके लिए भी बहुत धन्यवादी हूँ और मैं पहचान सकता हूँ कि कर्मचारियों में से दो तो हमारे घराने के हैं और शेष लोग को भी पहचान सकता हूँ। आपने कहला भेजा है कि बादशाह उसके बगीचे में रोपने के वास्ते मेरे राज्य के पौधे दकार हैं। सो आप दया करके कालिंपोंग में राजा (सोनम) तोबग्ये (दोरजी) को जो पौधे दकार हैं। चिट्ठी भेज दीजिए और मैं वहां से मेरा नौकर भी भेज दूंगा और मेरे राज्य में जो पौधे हैं। बहुत खुशी के साथ (बादशाह को) चढ़ाऊंगा।

“आजकल यहाँ टोड़ सा जोड़ भी भीतर के जो कमड़े (रे) बनाना है बना चुका हूँ और अब थोड़ा-2 दीवान लगाना और छत लगाना है, लगा रहे हैं और अब जल्दी

ही पूरा हो जावेगा। मैं अपना कमड़ा (रा), पुराना मंदिर और एक नया मंदिर का छत चदर लगाता हूँ। मैं कभी-2 रैयतों के मदद में लकड़ी निकलवाने और पत्थर निकलवाने जाता हूँ। कभी-2 शिकार करने जाते हैं। और सोलह जंगली सूअर और दो मृग तक पाये हैं। आपके कृपा से सिक्का भी छपवाया (ढलवाया?) और प्रायः बीस सहस्र तक छापा (ढलवाया?) और जो मुझे खर्च करना है इनसे करता हूँ और रैयतों को दिया। आप और आपके मित्रों के वास्ते मैं मेरा साठ सिक्का तक भेजता हूँ...मेरा एक फोटो, मेरी औरत और मेरे बच्चा का एक फोटो और आप लोगों के भलाई का पत्र लगातार भेज दीजिये। आप और आपके मेम को मेरा प्यार और आपके मित्र जो मुझे चिन्हते हैं मेरा सलाम दीजिये।

“आपको सदा प्यारा मित्र-जे वांगचुक।”

भूटान की तत्कालीन उथल-पुथल हिंदी के माध्यम से: “बहुत दिनों से मैं आपको लिखना चाहता था पर हमारे देश में अचानक एक गोलमाल उठ खड़ा हुआ जिसके कारण से मैं आपको लिखने नहीं सका...“बीते साल से ही लामा शाबदुंग (धर्मराज) रैयतों और गुप्त रीति से हमारे ऊपर से अत्याचार कर रहे थे। पता चला है कि उसने हम लोगों को सर्वनाश करने के लिए नाना किस्म का भेद आदि लगाया है। इस प्रकार उपद्रव करने पर भी हम लोग सहते ही रहा था। पर फिर इतना करने पर भी संतुष्ट न होकर नीचे (भारत में) महात्मा गाँधी के पास सहायता के उसका आदमी और भाई भेज दिया है। फिर तिब्बत में यह पता लगाने के वास्ते आदमी भेजा है कि पेनदेन रीनपोछे (लामा) चीन का पल्टन के साथ चीन से तिब्बत में आया है कि नहीं। यदि पेनदेन (लामा) आया होता तो वह पेनदेन से यह अनुरोध करनेवाला था कि वे उसको भूटान को अपने वंश में करने में सहायता करें। उसमें ऐसा राजद्रोही करने पर भी सहते-2 ही रहा था। पर इतने में सुना कि फिर वह भूटान छोड़ कर उपर्युक्त जनों से भूटान अपने बश में करने के लिए सहायता मांगने जानेवाला है... उसको (धर्मराजा को) जाने से रोक रखा है और उस पर पहरा दिया जाता है। इस विषय में उनके (धर्मराजा) सहचरियों को भी गिरफ्तार कर लिया है। और अभी तक इस बात (समस्या) को तय कर नहीं चुका हूँ।”

उपरोक्त पत्र लिखे जाने के (18-11-1931) चंद दिनों बाद धर्मराजा पुनाखा तालो बौद्ध-बिहार में मृत पाये गये। ध्यातव्य है कि ऊपर धर्मराजा लामा शाबदुंग द्वारा महात्मा गाँधी को लिखे जिस पत्र का उल्लेख है, वह भी हिन्दी में ही लिखा गया था।

कर्नल बेली को महाराजा का एक और पत्र

क्युनगा रपतेन तोरखा

9-1-1938

मेरा प्रिय मित्र

कुछ दिन आगे मुझे (राजा) एस.टी. दोरजी से खबर मिली कि आप अपनी मेमसाहिबा तथा बेटी सहित इस वक्त कालिंगपोंग सकुशल पधारे हैं। इसे सुनकर मैं

चिन्तन-सृजन वर्ष-7 अंक-1

अत्यंत खुश हुआ कि दूसरे साल मैं हिंदुस्तान जाते वक्त आप लोगों से भी मिलने का सुभाग्य प्राप्त होगा। हमारे परम पुज्यमान पिता के समय ही से आपलोगों के साथ मित्रता के संबंध होने पर भी चिट्ठी लिखा लिखी की सिवाई मिलने का अवसर नहीं मिला है। आजकल यहाँ पर मैं भी अपने परिवार के साथ सब अच्छे हैं। बहुत-2 सलाम के साथ

आपका शुभचिंतक
जे. वांगचुक

बीसवीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजों के जाने के बाद भारतीय उपमहादेश की राजनीति ने घातक रूपसे सामाजिक समरसता पर प्रहार कर उसे कमजोर या खण्डित किया। ऐसा श्रीलंका, नेपाल, भारत एवं अन्य देशों में भी हुआ। वैसे इस छोटे मन की राजनीति की शुरुआत तो अंग्रेजों के रहते ही हो चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ। 30 लाखों लोग छुरा घोंप कर मारे गये। एक करोड़ से अधिक का विस्थापन हुआ। बांगलादेश एवं पाकिस्तान से विस्थापन अभी भी जारी हैं। उन देशों के हिन्दू, बौद्ध, ईसाई अल्पसंख्यकों के प्रति भारतीय नेतृत्व निहायत संवेदनहीन तथा गैर-जबाबदेह रहा। नेहरू लियाकत अली समझौता एवं इन्दिरा मुजीब समझौता के प्रावधानों को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया। देश के विखण्डन के बाद हिन्दू-मुस्लिम समस्या का अन्त हो जाना चाहिए था। ऐसा हुआ नहीं। राजनीतिक निहित स्वार्थ के लिए व्होट बैंक की राजनीति को बनाए रखा गया। अपने सेक्युलरी मिथ्याडम्बर के बाबजूद हमने बहुसंख्यक अल्प-संख्यक के विभाजन का आधार धर्म को बनाए रखा। इसकी उपयोगिता राष्ट्र या समाज के लिए भले न हो, भले ही ऐसा करना देश के लिए घातक हो, हमारी राजनीतिकों एवं राजनीतिक दलों के लिए तो यह लाभदायक है ही। वस्तुतः आज के जसवन्त सिंह से जुड़े जिन्ना संबंधी विवाद को भी, भारतीय राजनीति के इसी संदर्भ में देखा परखा जाना चाहिए।

जिन्ना, जैसा कि हम जानते हैं, अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए लाखों हत्याओं, हजारों औरतों के शील-हरण एवं करोड़ से अधिक लोगों के विस्थापन के लिए उत्तरदायी रहे हैं। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए जिन्ना को दंगे कराने से परहेज नहीं था। वस्तुतः 1940 के बाद के जिन्ना का चरित्र एक दानव की तरह का ही था। लेकिन यह विडम्बना ही है कि भारतीय राजनीतिक में जिन्ना की उपयोगिता आजादी की बाद भी बनी रही, वह भी मात्र कम्युनिस्टों के लिए नहीं जिन्होंने जिन्ना के स्वर में स्वर मिलाते हुए पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव स्वीकृत किया था। वैसे दूसरे भी थे जिन्होंने दक्षिण में गुण्टुर में जिन्ना की मूर्ति, जिन्ना चौक बनवाए।

अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व के समय से भाजपा में आन्तरिक एवं वाह्य कारणों से उदार दिखने की प्रवृत्ति बढ़ी और उसका एक अत्यन्त भोड़ा तरीका

जिन्ना का सार्थक चित्र खीचकर किया जाना भी है। कांग्रेस-मुस्लिम लीग की संयुक्त सरकार में वित्त-मंत्री लियाकत अली खान की भूमिका ने बात बिल्कुल साफ कर दी थी कि यह प्रयोग चल ही नहीं सकता था। फिर पूर्वी बंगाल से असम को जोड़ना, जनसंख्या के अनुपात की लगातार अनदेखी कर मंत्री या अन्य सभी पदों पर अधिक मुस्लिम प्रतिनिधित्व, बात मनवाने के लिए मुस्लिम लीग का हिंसात्मक दबाव, अंग्रेजों की देश तोड़ने की नीति आदि कारणों से लाचार नेहरू एवं पटेल को विभाजन मानना पड़ा। विभाजन के कारक तो जिन्ना तथा उनकी मुस्लिम लीग ही रही है।

सत्ता की तीव्र ललक, कुर्सी एवं पद के लिए ओक्षा उतावलापन, राजनीतिक में व्यक्ति के हितों की केन्द्रीयता, राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों की अनदेखी, राजनीतिक दलों को कुर्सी पाने का साधन बनाकर उस पर कब्जाने के लिए सतल संघर्ष एवं गुटबन्दी आदि कारणों से लांछन एवं आरोप-प्रत्यारोप तक सिमटी राजनीति से देश के सामने खतरा उपस्थित हो गया है। बदलाव आवश्यक है। हमारे राजनीतिकों को सतत सेवा एवं प्रतीक्षा का मंत्र सीखना चाहिए। आखिर जापान का उदाहरण सामने है, जहाँ 50 वर्ष के बाद ही दलीय स्तर पर सत्ता-परिवर्तन हुआ है।

यह आवश्यक है कि दक्षिण एशिया की राजनीतिक में गुणात्मक बदलाव लाया जाय ताकि इस क्षेत्र या पड़ोस के देशों के बीच मधुर संबंध बनाए जा सकें। इसके लिए तथ्याधारित बातों पर बल एवं मिथकों का परित्याग आवश्यक है। नेपाल में अक्सर अंग्रेजों से हुई संधि की बात उठायी जाती है। उनसे पूछा जाना चाहिए कि भारत एवं नेपाल के इतिहास की शुरूआत पृथ्वी नारायण शाह एवं अंग्रेजी राज से होती है या फिर अतीत में अशोक या उससे और भी आगे तक जाती है। यही बात चीनी तुर्किस्तान के संदर्भ में चीन से या फिर अन्य पड़ोसियों से भी पूछी जा सकती है।

एक बात और। आपसी संबंध सुधार में उन लोगों की कोई भूमिका नहीं जो महज किसी रात्रि-भोज, जैसे मुसर्रफ के, या चीन आदि के विदेश-भ्रमण के लाभ पाकर अपनी भाषा बदल लेते हैं। ऐसे खतरनाक लोगों की पहचानकर देश को उनसे बचना चाहिए। फिर देश-हित का कार्य ऐसे एजेण्टों पर नहीं छोड़ा जा सकता।

ब्रज बिहारी कुमार

लड़ाकू पत्रकारिता से बिकाऊ पड़ाव पर

□ रामबहादुर राय

पत्रकारिता खतरे में है। इसका एक मतलब बहुत साफ है कि भारत में पत्रकारिता की जो परंपरा रही है उस पर खतरे के काले बादल मंडरा रहे हैं। हालिया तौर पर इसके कई संकेत साफ-साफ उभरे हैं। लोकसभा चुनावों के दौरान ज्यादातर मीडिया घरानों ने जिस बेशर्मा के साथ पत्रकारिता की परंपरा को छोड़ा और काली कमाई के लिए खबरे बेची उससे उनलोगों का चिंतित होना स्वाभाविक है जो लोकतंत्र से अपना सरोकार रखते हैं। चुनावों के बाद एक सिलसिला चल पड़ा है जिसमें पत्रकार और पाठक आत्मनिरीक्षण कर रहे हैं। इसका मकसद उस सदाचार को अर्जित करना है जिसे छोड़ा जा रहा है। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय ने पहल की। उसके कुलपति अच्युतानंद मिश्र को यह सुझाव हिंदी पत्रकारिता के शिखर पुरुष प्रभाष जोषी ने दिया।

विश्वविद्यालय ने एक दिन का सेमिनार किया। विषय था- लोकसभा चुनाव में मीडिया की भूमिका। बीते 22 मई को दो सत्रों में सेमिनार चला। उसमें पत्रकारों के अलावा राजनीतिक नेता भी शामिल हुए। वहां यह बात उभर कर आई कि मीडिया और राजनीतिक दलों का कारपोरेटाइजेशन हो रहा है। सत्ता का प्रभाव मीडिया पर बहुत अधिक हो गया है। सत्ता मीडिया को बेपेंदी का बना दे रही है। उसका पुराना सरोकार बदल गया है। इससे मीडिया की शक्ति बदल गई है। वह सच को ऊजागर करने से कतरा रही है। दलों की तरह मीडिया लोगों को लड़ा रही है। मीडिया पूरी तरह कारोबारी हो गई है, वह प्रोफेशनल नहीं रही। वह बेलगाम हो गई है। उस पर किसी का कोई अंकुश नहीं है, न नियम का, न नीति का। इसके लिए प्रेस परिषद बनाई गई थी। वह बेदम हो गई है। जब से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आया है तब से प्रेस परिषद का कोई मतलब नहीं रह गया है क्योंकि उसके दायरे में सिर्फ प्रिंट ही था। बड़े अखबारों ने प्रेस परिषद की नैतिक अवमानना कर उसे नखहीन और दंतहीन बना दिया है।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार तथा 'प्रथम प्रवक्ता' पाक्षिक के सम्पादक हैं।

उस सेमिनार में एक वक्ता ने मर्म पर हाथ रखा। कहा कि बुनियादी सवाल उठाने का वक्त आ गया है। सवाल है कि मीडिया का बिजनेस पार्टनर कौन है। इससे यह समझ लेना होगा कि पत्रकारिता एक कारोबार में बदल गई है। वह कारोबारी घराने का हित साधन कर रही है। क्या मीडिया को वे ही कारोबारी घराने नियंत्रित कर रहे हैं? इस सवाल को थोड़ी देर के लिए स्थगित कर दें और जानने की कोशिश करें कि क्या मीडिया सिर्फ व्यवसाय ही है? इन बातों को जानने के लिए उस दुनिया में झांकना होगा जहां से मीडिया नियंत्रित और संचालित हो रही है। इसी से संबंधित है यह पक्ष कि मीडिया के वित्तीय हित कहां-कहां जुड़े हैं। सेमिनार में ऐसे अनेक पेचीदे सवाल उठाए गए। यह महसूस किया गया कि मीडिया जनता से कट गया है।

जिस परिस्थिति में पत्रकारिता हो रही है उससे निकलने का रास्ता क्या है? इस पर प्रभाष जोशी ने रोशनी डाली। पत्रकारों को यह समझना होगा कि पत्रकारिता किसके लिए है। क्या मालिकों या संपादकों के लिए पत्रकारिता होती है? पत्रकारिता लोकतंत्र में लोगों के हाथों की तलवार होती है जो संसद, न्यायपालिका और सरकार पर निगरानी रखती है। अपने देश में पत्रकारिता की एक धार रही है। उसे बनाए रखने की परंपरा रही है। लेकिन जो कुछ हो रहा है वह सिर्फ भ्रष्टाचार का ही मामला नहीं है बल्कि यह है कि मुनाफे की ही पूजा हो रही है। जो लोग यह कर रहे हैं इस फर्क को नहीं समझते कि प्रिंटिंग का व्यवसाय और पत्रकारिता अलग अलग है। हमारे यहां जो पत्रकारिता रही है वह पवित्र होती थी। अब हमें बताया जा रहा है कि हम नई पत्रकारिता कर रहे हैं। यानी अखबार को मुनाफे का जरिया बना रहे हैं। जो लोग यह कर रहे हैं वे इसे बताना नहीं चाहते। इसलिए जरूरी है कि पाठक सामने आए तभी पत्रकारिता बचेगी। संसद कानून बनाये कि खबर और विज्ञापन में फर्क करो।

इसके कुछ दिनों बाद विट्ठल भाई पटेल हाउस के कॉस्टीट्यूशन क्लब में उदयन शर्मा फाउंडेशन ने इसी विषय पर गोष्ठी की। वहां मानव संसाधन मंत्री कपिल सिब्बल ने पत्रकारों को जो चपत लगाई वह इतनी करारा थी कि मौजूद हर व्यक्ति अबतक उस चोट को सहला रहा है। पहले यह जानें कि उन्होंने कहा क्या? मंत्री के श्रीमुख से निकला कि 'मीडिया कुछ भी लिखता रहे और दिखाता रहे उससे सियासत पर कोई असर नहीं पड़ता। आज का वोटर (पाठक और दर्शक) बेवकूफ नहीं है। उसे मालूम है कि मीडिया पैकजों में बिक रहा है।' भारत सरकार का एक मंत्री जब यह कह रहा था तो किसी पत्रकार ने प्रतिवाद नहीं किया। वह करता भी कैसे क्योंकि मंत्री ने आप बीती बताई होगी। वे चुनाव लड़कर लोकसभा में पहुंचे हैं। दिल्ली की जिसे धड़कन कहा जाता है उस चांदनी चौक क्षेत्र से निर्वाचित सदस्य जब मीडिया के पैकेज में बिकने की बात धड़ल्ले से कह रहा है तो उसे इसका अंजाम भी मालूम होगा। वे अकेले सदस्य नहीं है। सच तो यह है कि पंद्रहवीं लोकसभा के ज्यादातर सदस्य अयोग्य घोषित हो सकते हैं बशर्ते खुलेआम आई शिकायतों पर निर्वाचन आयोग

कार्रवाई करे और मीडिया को दिए पैकेज की रकम को उनके चुनाव खर्च में डाल दे। ऐसा हो या न हो पर इतना तो तय हो गया है कि लोकसभा चुनाव में मीडिया ने सामाजिक-राजनीतिक मंथन का अपना काम इस बार नहीं किया। सुना है कि पत्रकारों की दस्तावेजी शिकायत पर प्रेस परिषद इस मामले की जांच कर रही है।

पत्रकारिता अगर पटरी से उतरी न होती और छोटे-बड़े मीडिया घराने पैकेज के दलदल में फंसे न होते तो कपिल सिब्बल तमाचा जड़कर बिना जबाब पाए निकल नहीं पाते। यह कम हैरतअंगेज घटना नहीं है कि मीडिया के बड़े सूरमाओं की मौजूदगी में एक मंत्री पत्रकारिता का चीरहरण करता है और वे लोग सिर्फ तमाशा देखते हैं। इससे पत्रकारिता की आजादी पर बड़ा सवाल खड़ा होता है। हम जानते हैं कि पत्रकारिता की आजादी का मतलब मालिकों, संपादकों या पत्रकारों की आजादी नहीं होती, हालांकि वह भी होती है। वास्तव में वह लोगों की आजादी होती है। पत्रकारिता की आजादी जहां है वहां एक नागरिक को पूरा सच पता चलना चाहिए। इस लोक सभा के चुनाव में जैसी पत्रकारिता हुई है क्या उसमें लोगों को पूरा सच बताया गया है। इसका जवाब खोजने के लिए कहीं किसी बियावान में भटकने की जरूरत नहीं है। हमारे आसपास की सच्चाई खुद बयान कर रही है कि मीडिया ने अपना काम नहीं किया।

यह पत्रकारिता पर हमला है। इसे समझना जरूरी है क्योंकि यह नई परिस्थिति है। एक धारणा बनी हुई है कि पत्रकारिता पर हमला सरकार करती है और जो सत्ता में बैठे हुए हैं वे करते हैं। यह सच का एक पक्ष है। पूरा सच यह है कि विज्ञापनदाता, संपादक और संवाददाता के आग्रह-पूर्वाग्रह से भी पत्रकारिता घायल होती है। राजनीतिक दल, माफिया, आतंकवादी आदि जितने बड़े खतरे पत्रकारिता के सामने पैदा करते हैं उससे कहीं ज्यादा खतरनाक रवैया इस बार संसदीय लोकतंत्र को चलाने के लिए चुनाव मैदान में उतरे राजनीतिक लोगों ने अपनाया। इस कारण पत्रकारिता पर हमले को व्यापक दायरे में देखने की जरूरत है। सरकार के हमले को सब देखते और समझते हैं। उसका प्रतिकार करते हैं। इसके लिए पत्रकार एक जुट हो जाते हैं। पत्रकारिता पर सरकार का हमला तो कभी कभी होता है। इस समय जिस खतरे से पत्रकारिता गुजर रही है वह आंतरिक है। वह खतरा उसके घर में है। अखबार के मालिक अपने धंधे के लिए सरकारी तंत्र, राजनेताओं और मंत्रियों का इस्तेमाल करते रहे हैं। इसकी ऐवज में वे समझौता भी करते रहे हैं। अब जो नया खतरा पैदा हुआ है उसकी प्रकृति भिन्न है। उसका संबंध काले धन से है। इस तरह मीडिया काली कमाई की लालच में पड़ गई है।

मीडिया घराने सौ चूहे खाकर हज करने जा सकते हैं। लेकिन एक नागरिक क्या करे। आखिर मीडिया है किसके लिए? लोकतंत्र में मीडिया की सार्थकता नागरिक से जुड़ी हुई है। दो सौ साल पहले जब इस देश में पत्रकारिता शुरू हुई तो उसे जल्दी

में लिखा साहित्य और रोज का इतिहास कहा गया। तब फुर्सत बहुत होती थी, घटनाओं पर रिपोर्ट बनाने की फुर्सत और सोच-समझकर विश्लेषण करने की फुर्सत। मौजूदा दौर जिसमें हम हैं इसमें तेज गति है। समझिए कि सांस लेने की भी फुर्सत नहीं है। हड़बड़ी है। भागमभाग है। आज की पत्रकारिता चाहे वह नई हो या पुरानी, प्रिंट हो या इलेक्ट्रॉनिक वहां मात्र हड़बड़ी है। साहित्य तो बिल्कुल नहीं। जिसका बहुत बड़ा हिस्सा हड़बड़ी का हो वह सच कैसे हो सकता है। सच का भ्रम उसमें अवश्य होगा। पत्रकारिता पर एक खतरा यह भी है कि वह जो जानकारी दे रही है वह सच नहीं है, उसका भ्रम है। वह भ्रम की पैकेजिंग कर रही है। जैसे जैसे आपसी होड बढ़ी है वैसे-वैसे स्तर गिरा है। इस मायने में आज की पत्रकारिता पर अर्थशास्त्र का ग्रेसिम वाला नियम लागू होने लगा है। खोटा सिक्का खरे को चलन से बाहर कर दे रहा है। कई तरह की होड़ है। विज्ञापन और सरकुलेशन की। सच को उजागर करने की होड़ कहीं नहीं दिख रही है।

भाषाई पत्रकारिता का गुणवत्ता के मामले में हाल बुरा है। हमारे देश में भाषाई पत्रकारिता 150 साल पुरानी है। उसका उभार 1975 के बाद तेजी से हुआ है। आज कई अखबार हैं जिनका दावा है कि उनके करोड़ों पाठक हैं। फिर भी यह सवाल अपनी जगह कायम है कि क्या कोई राष्ट्रीय दैनिक है? इसका जवाब खोजने पर निराशा हाथ लगेगी। अंग्रेजी अखबार भी राष्ट्रीय बनने के बजाए अंतरराष्ट्रीय अखबारों की पूंछ बन गए हैं। राष्ट्रीय अखबार की एक ही पहचान है कि उसे देश व्यापी सम्मान मिलता है। यह तभी होता है जब अखबार या टीवी चैनल जनमत बनाने में समर्थ हो। वह सरकार की नीतियों को जनता के हक में बनवा सके। यह काम मीडिया कहां कर रहा है? साफ है कि मीडिया ने जनमत बनाने की अपनी जिम्मेदारी छोड़ दी है। ज्यादातर मीडिया मालिक अमेरिका में पत्रकारिता की पढ़ाई करके अपने घराने संभाल रहे हैं। उन्हें प्रोफेसर जेफ जारविस की चिंता थोड़ी भी नहीं सता रही है। वे न्यूयॉर्क के एक विश्वविद्यालय में पत्रकारिता पढ़ाते हैं। उन्हें जाना माना ब्लागर माना जाता है। ये कहते हैं कि मुझसे आजकल दो सवाल पूछे जाते हैं। पहला पत्रकारिता क्यों पढ़ा रहे हैं जबकि खबरों का सर्वनाश हो गया है। दूसरा कि नई पीढ़ी को इस धंधे में क्यों उतार रहे हैं जो मरणासन्न अवस्था में है।

इन दोनों सवालों के जवाब खोजे जा रहे हैं। पूरी दुनिया में ये सवाल पत्रकारिता के सामने हैं। हमारे यहां ये सवाल अधिक मायने रखते हैं क्योंकि पत्रकारिता की हमारी परंपरा देश को जगाने और जगाये रखने की रही है। लोकतंत्र में यह भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। लोकतंत्र के तहत संवैधानिक मंचों पर जो बहस होती है उसका महत्व तो है लेकिन उससे जनमत नहीं बनता। उसे औपचारिक बहस मान लिया जाता है। जब मीडिया किसी सवाल को उठाता है तो लोग उसे ध्यान से पढ़ते और सुनते हैं क्योंकि मानते हैं कि यह बहस ही वास्तविक

है। क्या मीडिया ऐसी बहस छेड़ने की कोशिश कर रहा है। जवाब ना में है। इससे दोहरा नुकसान हो रहा है। मीडिया अपना फर्ज अदा नहीं कर रहा है और लोकतंत्र खोखला हो रहा है। सत्ता में जो भी होता है वह चाहता यही है। इसीलिए सत्ता प्रतिष्ठान की कोशिश होती है कि वह स्वतंत्र मीडिया को अपने अंकुश में रखे या पथभ्रष्ट कर दे। हमारी मीडिया अपने आप सत्ता प्रतिष्ठान की इच्छा को पूरी कर रही है। वह बेईमानों को बचा रही है। रिश्तखोरों को खुलकर खेलने के लिए मैदान दे रही है। भ्रष्ट राजनीतिक नेताओं और नौकरशाहों की जी हुजूरी कर रही है क्योंकि मीडिया मुनाफे की भूख में पागल है।

जिस त्रासदी की तरफ हमारा ध्यान नहीं गया है उसका संबंध विदेशी पूंजी का मीडिया पर कसता शिकंजा है। जवाहरलाल नेहरू ने नीति बनाई थी कि मीडिया में विदेशी पूंजी को इजाजत नहीं दी जायेगी। सिर्फ *रीडर्स डाइजैस्ट* को अपवाद रखा गया था। उसके अपरिहार्य कारण थे। नेहरू के नाती राजीव गांधी ने उस नीति पर पुनर्विचार शुरू किया और अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार ने उस सिलसिले को अंजाम दिया। विदेशी पूंजी को इजाजत दे दी। जिस दिन यह फैसला हुआ वह काला दिन था। वह 25 जून 2002 था। उसकी तुलना 25 जून 1975 से ही की जा सकती है। जिस दिन इंदिरा गांधी ने लोकतंत्र का गला घोटकर तानाशाही का रास्ता अपनाया था। उसके लिए इमरजेंसी लगा दी थी। वाजपेयी सरकार के फैसले का कुफल सामने आने लगा है। विदेशी कंपनियां हमारे देश की मीडिया को चला रही है। विदेशी विज्ञापन एजेंसियां तय कर रही हैं कि मीडिया में खबर क्या होगी। वे खबर की नई परिभाषा गढ़ रही है। जो जनहित में है वह उनके हिसाब से खबर नहीं है। बड़ा सवाल यह है कि हमें कैसी मीडिया चाहिए? जरूरत है कि मीडिया अपनी बेड़ियाँ तोड़े। यह आजाद होने की इच्छा से संभव है। बिकाऊ मीडिया तो गुलाम से भी बदतर होगी।

चीन की लुडमन गुहाओं में

□ आचार्य रघुवीर*

लुडमन की गुहाएं और उनकी मूर्तिकला इस बात की साक्षी है कि एक शक्तिशाली धर्म ने एक भावुक और श्रद्धालु जाति को हृदय में गहरी छाप डाली। यह कला महती जागृति का प्रतीक है। केवल राजकुल ही नहीं किन्तु समस्त राष्ट्र इस कला से अभिभूत हुआ। लुडमन उज्ज्वल तथा आध्यात्मिक ज्वालाओं का प्रकाश प्राचीन काल से आठों दिशाओं में फैलाता आ रहा है। इनकी कीर्ति और गरिमा केवल यहां तक ही सीमित नहीं। यह कला प्रभूत भूमिखण्डों को पार करती हुई ज्ञान और भक्ति के अजेय बल द्वारा, व्यक्तियों तथा राष्ट्रों को नए प्राणों से अभिषिक्त करती गई। जीवन में सर्जनशीलता आई, प्रगति हुई और राष्ट्रों ने नया रूप धारण किया।

चीन में बौद्ध धर्म का विकास और प्रचार स्वी तथा थाइ राजाओं के काल में शिखर पर था। हमारे पास ऐतिहासिक सामग्री के दो महान् स्रोत हैंचीनी साहित्य और पुरावशेष। चीनी साहित्य में वंशानुवंश, स्थानुस्थान, इतना ही नहीं, विहारानुविहार विशाल और विस्तृत वर्णन हैं कि किस प्रकार से और किन प्रयोजनों को दृष्टि में रखते हुए किन विहारों का निर्माण हुआ, आदि आदि।

ऐतिहासिक साहित्य में सुकीर्तित स्थान नष्ट हो चुके हैं किन्तु फिर भी ऐसे पुरावशेषों की न्यूनता नहीं जिनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है कि दोनों का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है और बौद्ध धर्म के इतिहास की श्रृंखला सतत और अविच्छिन्न रूप में जानी जा सकती है।

अधिकांश महत्त्वपूर्ण अवशेष चौथी से बारहवीं शताब्दी तक के हैं। चाहे आठ सौ वर्ष व्यतीत हुए हों, और चाहे सन्त और महात्मा, विद्वान् और आचार्य, सम्प्रदायप्रवर्तक तथा शास्त्रों और सूत्रों के अनुवादक विचक्षण पण्डित इस संसार से चल बसे हों, ये स्मारक अभी तक उनके पुण्यकर्म की घोषण कर रहे हैं। जब हम साक्षात् इन स्थानों पर खड़े होकर इनके वैभवकाल का चिन्तन करते हुए प्राचीन मूलचित्र अपने मन में निर्माण करते हैं तो श्रद्धाभक्ति का आप्लाव उमड़ आता है। चीन की बीती हुई शताब्दियां क्षणभर के लिए मूर्तिमती हो जाती हैं।

* यह लेख पचास से अधिक वर्ष पूर्व हमारे मनीषी परम विद्वान प्रोफेसर (डॉ.) रघुवीर द्वारा लिखा गया था।

पत्थर, ईंट, मिट्टी, लकड़ी, लोहे और पीतल के इन पुरावशेषों में सर्वप्रमुख पहाड़ों में बनाई गुहाएं, शिलाओं पर लिखे हुए सूत्रोद्धरण, दो-तीन अंगुल से लेकर सौ हाथ तक की ऊंची, विशाल और मनोभिभावी मूर्तियां, प्राचीन सिद्ध लिपि में लिखे हुए तथा समस्त देश में फैले हुए धारणी-स्तम्भ हैं।

किन्तु कला की दृष्टि से अथवा इतिहास की साक्षि-रूपता की दृष्टि से पर्वत-गुहाएं प्रथम श्रेणी में आनी चाहिए। 366+57 विक्रम से इन गुहाओं का आरम्भ होता है। वंशानुवंश और प्रान्तानुप्रान्त वेषभूषा, वास्तु और कला, दर्शन और सम्प्रदाय में जो भेद होते गए उनका चित्रण इन गुहाओं में मिलता है। भारत में इन गुहाओं का प्रारम्भ हुआ, चीन में इनका विकास पराकाष्ठा तक पहुंचा। भारत से संबद्ध और प्रभावित किसी और देश में इतनी गुहाएं नहीं हैं और न ही उनमें इतनी कलाकृतियां विद्यमान हैं। यदि हम संसार के सभी देशों पर दृष्टिपात करें तब भी चीन की बौद्ध गुहाएं प्राचीन कला और शिल्प की महत्तम गुहाएं हैं। बौद्धधर्म ने किस प्रकार साम्राज्य प्रवर्तकों और सामान्य जनता के जीवन को अनुप्राणित किया था उसका अनुमान इन पुरावशेषों तथा साहित्यानुशीलन दोनों से ही यथार्थ रूप में हो सकता है।

15 जून, 1955 को विश्वविख्यात लुडमन् की गुहाएं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लुडमन् लोयाड नगर से चालीस ली (3 ली=1मील) दूर है। मार्ग में जाते हुए लुडमन् के समीप ही एक कोयले की खान खुदती हुई देखी। घोड़े-गाड़ियां, खच्चर और गधे कोयला ले जाते हुए मार्ग में मिलते रहे। पूछने पर यह निश्चय न हो सका कि कोयला खोदने वाले लुडमन् की गुहाओं पर आक्रमण करेंगे अथवा नहीं।

अब लुडमन् की गुहाओं में आइए। दो खड़ी हुई पहाड़ियों के बीच में से छोटा-सा नाला निकलता है। पहाड़ी असितवर्ण राजाश्म की बनी है। मूर्तियां बनाने के लिए यह पत्थर सुन्दर है। उत्तर वेई वंश के आरम्भ से यहां गुहाएं और मूर्तियां बनने लगीं और थाडवंश में इनका विस्तार हुआ।

493+57 विक्रम में जब राजधानी लोयाड बनी और उत्तर वेई के महाराज तथा उनके सामन्त लोयाड में आए तो उन्होंने लुडमन् की शिलाओं में जीवन भरना आरम्भ किया। चीनी कवि इनको देखकर मुग्ध हो उठता है और कहता है कि शिलाएं भी स्वयं बुद्ध की पदवी तक पहुंच गई हैं और संसार के जीवन को सुखमय बनाने में सिद्ध हुई हैं।

वेई महाराज के पश्चात् पूर्वी वेई, उत्तरीय स्वी तथा थाड राजाओं ने एक दूसरे से बढ़कर गुहाएं और मूर्तियां बनवाईं। महाराज काओ-त्सुड तथा महारानी बू के समय में कला पराकाष्ठा पर पहुंची। महाराज श्वेन्-त्सुड के काल में हास आरम्भ हुआ।

ई नदी के दोनों ओर की पहाड़ियां गुहाओं से भरी हैं किन्तु बाएं तट पर ही लुडमन् की कला का वैभव है। वाम तट की गुहाएं दो भागों में बांटी गई हैं उत्तर और दक्षिण। उत्तर भाग में प्रथम 6 गुहाएं और दक्षिण में शेष 15 गुहाएं हैं।

लुडमन् में अनेक गुहाओं की तिथि, दाताओं के नाम और खुदाई का वर्णन दिया हुआ है। जिससे ऐतिहासिक अध्ययन में बहुत सहायता मिली है। सबसे पहली

तिथि 483+57 विक्रम है। जिसका अर्थ स्पष्ट है कि लोयाड को राजधानी बनाने से कुछ पूर्व ही गुहाओं का कार्य लुडमन में आरम्भ हो चुका था।

छोटी बड़ी मिलाकर लुडमन में एक सहस्र के लगभग गुहाएं हैं।

लुडमन कठोर राजाशम का बना हुआ है। पत्थर के स्तर क्षैतिज नहीं किन्तु तीस अंश के प्रावण्य पर हैं। अतः गुहाओं का खोदना अत्यन्त कठिन है। परिणामस्वरूप अधिकांश गुहाएं छोटी हैं। परन्तु यहां पत्थर की कठोरता के कारण कला अति सूक्ष्म है। वर्षा और धूप मूर्तियों का अधिक विनाश नहीं कर पाई हैं। मूर्तियों की रेखाएं गहरी और तट स्पष्ट हैं।

विदेशियों ने चीन की कला में रुचि ली। उसका अनिष्ट परिणाम यह हुआ कि व्यापारियों ने 1912-1913 के लगभग लुडमन की मूर्तियों के सिर काटकर विदेशियों के हाथ बेचना प्रारम्भ किया। आज लुडमन की मूर्तियों के सुन्दर ऐतिहासिक शीर्ष लुडमन में नहीं अपितु यूरोप और अमेरिका के अद्भुतागारों और कलाप्रिय समृद्धजनों के गृहों की शोभा बने हुए हैं। केवल छेन्-शि-स्स के आसपास की मूर्तियां इन लोलुप व्यामूढ़ व्यापारियों के हाथ से बची हैं।

उत्तर वेई से आरम्भ होकर थाड वंश तक की कला में महदन्तर उपस्थित हुआ। इसका कारण चीनी राज्य की समृद्धि है। चीन का राज्य पारसीक देश के समीप तक पहुंचा। भोट द्वारा थाड कला और साहित्य का मगध से सम्बन्ध हुआ। समुद्रमार्ग से लंका का प्रभाव चीन पर पड़ा। इन्हीं दिनों श्वेन्-च्चाड और ई चिड जैसे बौद्ध यात्री बान्-श्वेन्-त्स जैसे चीनी अधिकारी और दूत भारत में आते रहे। और भारत और चीन के सम्बन्ध बढ़ते गए। गुप्तकला चीन में पहुंची और इन्हीं दिनों पारसीक कला का भी चीन को ज्ञान हुआ।

परिणामस्वरूप भारत की उच्च और गम्भीर कला से चीनी कला अनुप्राणित हुई। उत्तर वेई से लेकर थाड तक की कला के निदर्शन लुडमन में सुरक्षित हैं। अब हम कुछ गुहाओं का वर्णन करेंगे।

पहली गुहा की मुख्य एवं विशाल मूर्ति शाक्यमुनि की है। दोनों ओर काश्यप और आनन्द हैं। उपासक रूप में बोधिसत्त्व दक्षिण उत्तर भित्ति पर खड़े हुए हैं। सभी पद्मासनों पर आरूढ़ हैं। सम्मुख दो देव पापात्माओं को कुचल कर उन पर खड़े हुए हैं।

इस गुहा की मूर्तियां अच्छे बड़े आकार की हैं। इनमें थाडवंश के प्रारम्भिक काल की ओजस्विता भरी है। आज अन्दर की चारों भित्तियां सर्वथा नंगी और कोरी हैं। किन्तु सम्भवतः इन पर रंगीन चित्र रहे होंगे।

दूसरी गुहा में पद्मासन लगाए हुए बुद्ध की 12 हाथ ऊंची मूर्ति है। शरीर सुडौल है। रूपाकृति मनोमोहिनी और तेजस्विनी है। प्रभामण्डल नावाकार है। इस पर पद्म और अन्य पुष्प बने हैं। प्रभावमण्डल के चारों ओर ज्वालाएं हैं। उपासक अर्हत् 11 हाथ ऊंचे हैं। सभी में स्वी कला का चमत्कार है।

अन्दर की छत अर्धचन्द्राकार है। मध्य में पद्म। उसके चारों ओर उड़ती हुई अप्सराएं। चारों भित्तियां छोटे-छोटे बुद्धमूर्ति-पूर्ण आलयों और स्तूपों से खचित हैं। ऊपर भित्ति पर चङ्कवान् के 22 वें वर्ष का शिलालेख है (विक्रम संवत् 648+57)। इस लेख के अनुसार मैत्रेय की मूर्ति सस-थुन् वीथि के निवासी युवक और वृद्धों ने मिलकर खोदी थी। इस शिलालेख के नीचे ही आसन पर मैत्रेय विराजमान हैं। उनके साथ दो अर्हत्, दो बोधिसत्त्व और दो वज्रधर हैं।

तीसरी गुहा लुङ्मन् में सबसे वैभवशाली है। यद्यपि मूर्ति समविभक्ताङ्गा है, फिर भी औरों की अपेक्षा मुख कुछ लम्बा है और नेत्र पतली इन्दुकला के समान हैं।

भित्ति पर महाराजा और महारानी तथा उनके अनुचर उपसक के रूप में खड़े हैं। उनका रूप वास्तविकता और उदात्तता से पूर्ण है। कुछ जातकों की कथाएं भी प्रदर्शित हैं। एक में आत्माहृति करते हुए बोधिसत्त्व दिखाए गए हैं और दूसरे में सागर से चिन्तामणि की उपलब्धि का चित्रण है।

अन्दर की छत कुछ अण्डाकार है। मध्य में विशाल पद्म। उसके चारों ओर उड़ती हुई अप्सराएं और मेघ। गुहा कुट्टिम पर बड़े परिमाण के उत्पल कुसुम और वीचि-मालाएं उत्कीर्ण हैं। इन चित्रों की रक्षा के लिए भूमि पर चटाई बिछाई हुई है। शाक्यमुनि के चरणों पर सिंहयुग्म है।

चौथी गुहा में कम्बुग्रीव शाक्यमुनि विराजमान हैं। कम्बुग्रीव मूर्तियाँ थाङ् के पश्चात् लुप्त हो गईं। तीसरी और चौथी गुहा के मध्य में उत्कीर्ण शिलालेख के अनुसार वेई के राजकुमार थाङ् ने अपनी माता महारानी वन्-त के कल्याण के लिए बुद्ध की मूर्ति का निर्माण कराया था।

पांचवीं गुहा चिङ्-शान्-स्स है। सामने भित्ति पर ही मूर्तियों के खोदने का वर्णन है किन्तु तिथि नहीं दी गई। इस लेख के अनुसार थाङ्वंश के राजा थाई-त्सुङ् की महारानी वेई ने इस गुहा को खुदवाया था। और लेखों से तुलना करने पर यह निःसंदेह 658+57 विक्रम से पूर्व का लेख है।

छठी गुहा में पर्वतानीक की चौड़ाई 32 हाथ के लगभग है। इसको सम और मसृण बनाकर बुद्ध त्रिमूर्ति पर्वत में से उत्कीर्ण की गई है। मूल योजना के अनुसार बोधिसत्त्व-युग्म और वज्रधर-युग्म खोदे जाने चाहिए थे। बोधिसत्त्व का सिर ही पूरा हो सकता है। दायां बोधिसत्त्व भी अपूर्ण दशा में है। वज्रधरों की तो केवल रूपरेखा ही बनी है। तिथि का कोई निर्देश नहीं।

सातवीं गुहा के द्वार के दोनों ओर वज्रधर खुदे हैं। यहां पर उत्कीर्ण शिलालेख के अनुसार यह गुहा 687+57 विक्रम अथवा उससे भी पूर्व बनी है।

आठवीं गुहा में एक सहस्र छोटी-छोटी बुद्ध की मूर्तियां बनी हैं। द्वार के समीप दक्षिण भित्ति पर खुदे हुए शिलालेख पर थ्येन्-शोउ का द्वितीय वर्ष अर्थात् 691+57 विक्रम तिथि दी हुई है।

नौवीं गुहा वान्-फो-तुङ् अर्थात् सहस्र-बुद्ध गुहा है। मध्य में शाक्यमुनि अष्टकोण आसन पर विराजमान हैं। दोनों ओर दो अर्हत् और दो बोधिसत्त्व हैं। शाक्यमुनि और उनका आसन गुहा की पीछे की भित्ति में से खोदे गए हैं। शाक्यमुनि के प्रभामण्डल में अनेक बोधिसत्त्व उत्कीर्ण हैं। छत में पद्मपुष्प की परिधि पर शिलालेख है कि युङ्-तुङ् के प्रथम वर्ष में (680+57 विक्रम) भिक्षु च-युन् ने इस गुहा को बनवाया था।

दसवीं गुहा का प्रचलित नाम नतजानु-सिंह गुहा है। इस गुहा में बुद्ध और बोधिसत्त्वों के प्रभामण्डल चिन्तामणि आकार के हैं। यहां अनेक शिलालेख हैं। इनमें प्रथम तिथि 678+57 विक्रम और अन्तिम 692+57 विक्रम है।

भित्तिस्थ छोटे बुद्धों के उत्तमांग तोड़ दिए गए हैं। सौभाग्यवश नतजानु-सिंह अविकलांग बच गए हैं। उनकी अप्रतिम शोभा है। बाहर की भित्ति पर पञ्चभूमिक स्तूप खुदा हुआ है। इसकी ऊंचाई 4 हाथ से ऊपर है।

बारहवीं गुहा का नाम ता-तुङ् अर्थात् महती गुहा है। इस गुहा का अगला भाग नाश हो चुका है। निचला भाग अपूर्ण छोड़ दिया गया है तथा बाहर की भित्ति अधघड़ी रह गई है। गुहा की ऊंचाई 16 हाथ है। पिछली भित्ति के शिलालेख में तिथि 691+57 विक्रम तथा उत्तर की भित्ति पर 656+57 विक्रम तिथि उत्कीर्ण है। आलियों में खुदे बुद्ध 6 हाथ तक ऊंचे हैं।

तेरहवीं गुहा ल्येन्-ह्व-तुङ् अर्थात् नीलोत्पल गुहा है। यह गुहा उत्तर वेई के काल में आरम्भ की गई थी। इस गुहा में अनेक तिथियां दी गई हैं। गुहा की मुख्य मूर्ति शाक्यमुनि का मुख पूर्ण चन्द्र के समान गोल न होकर कुछ लम्बा है जिससे उसकी शोभा बढ़ गई है। परिधान की रेखाएं ओजस्विनी हैं। यह मूर्ति उत्तर वेई की परिपक्वता, तेजस्विता, महत्ता और उदारता का सुन्दर निदर्शन है।

चौदहवीं गुहा के प्रवेश-द्वार पर सिंहयुग्म रक्षा कर रहे हैं। छत 6 हाथ ऊंची है। छत में पद्मपुष्प खोदने का विचार था पर वह अधूरा रह गया है।

पन्द्रहवीं गुहा की पिछली भित्ति में मुख्य बुद्ध, दो अर्हत् और दो बोधिसत्त्व उत्कीर्ण किए गए हैं। कला की दृष्टि से मूर्तियां साधारण हैं। दाईं और बाईं भित्ति पर बनी हुई बौद्ध पञ्चमूर्ति की तिथि शिलालेख में 660+57 विक्रम दी हुई है। इस गुहा के सामने का भाग अपूर्ण छोड़ा हुआ है।

सोलहवीं गुहा खण्डित है। यह अपूर्ण है। मैत्रेय को छोड़कर सब मूर्तियों के उत्तमांग नष्ट हो चुके हैं। छत और कुट्टिम ठीक प्रकार से नहीं बने। ऐसा प्रतीत होता है कि काम बीच में छोड़ दिया गया। भित्तियों पर तीन तिथियों के शिलालेख हैं।

सत्रहवीं गुहा वेइ-अक्षर गुहा है। यद्यपि यह गुहा विशाल नहीं किन्तु उत्तर वेई की कला की सुन्दर प्रतिनिधि है। प्रभामण्डल अतिहृदयंगम है। इस गुहा में भी अनेक-तिथि वाले शिलालेख हैं।

अट्टारहवीं गुहा का निर्माण उत्तर वेइ में हुआ और जीर्णोद्धार थाइ काल में। गुहा कुछ लम्बी है। बुद्ध की मूर्ति का आसन अपूर्णघटित है। इस गुहा के शिलालेखों में तीन तिथियां हैं। पहली तिथि 537+57 विक्रम है। द्वार पर गरुड़ की मूर्ति उत्कीर्ण है।

अट्टारहवीं गुहा फङ्-शेन्-स्स में वैरोचन बुद्ध की सुमहती मूर्ति है। इस गुहा के संबंध में शिलालेख का वर्णन है कि थाइवंश के शेन्-हङ् के तृतीय वर्ष (672+57 विक्रम) में महाराज काओ-त्सुङ् ने अर्हद्-युग्म, बोधिसत्त्व-युग्म, देव-युग्म और वज्रधर-युग्म सहित सुविशाल वैरोचन बुद्धमूर्ति के उत्कीर्ण करने का आदेश दिया। शाङ्-खेन् के द्वितीय वर्ष (675+57 विक्रम) द्वादश मास के 30 वें दिन यह महत् कार्य समाप्त हुआ। इसके लिए महारानी वू ने 20 सहस्र क्वान् अपने पास से दान दिए। पांच वर्ष पश्चात् विहार की स्थापना हुई। इस विहार में 14 महापण्डित, जिनकी प्रज्ञा गम्भीर और शील उदात्त था, इस विहार में लाए गए। शिलालेख में आगे वर्णन है“जब से यह उत्तम धर्म पूर्व में आया है तब से अब तक सात सौ वर्ष से ऊपर हो चुके। बुद्ध-विहार बनाने का पुण्य अग्रगण्य है।”

उन्नीसवीं गुहा चीन की बौद्ध कला की चरम सीमा है। इस विहार निर्माण के महत्कर्म में श-ची-स्स के ध्यान-आचार्य शान्-ताओ, फो-हाइ-स्स के धर्माचार्य ह्वी-च्येन् सम्मिलित थे। निर्माण कार्य के अध्यक्ष शान्-ताओ सुखावती संप्रदाय के महाप्रवर्तकों में से हैं।

मूर्तियां पर्वत में से खोदी गई हैं। यहां पहाड़ी की चौड़ाई 68 हाथ की है और गहराई 80 हाथ। वैरोचन बुद्ध की ऊंचाई 22 हाथ से ऊपर है। केवल आसन 6 हाथ ऊंचा है। प्रभा मण्डल के शिखर से भूमि तक ऊंचाई 30 हाथ है। आसन वर्गाकार है। प्रत्येक कोने पर रक्षक खड़ा है। दोनों ओर योद्धा खुदे हुए हैं। सहस्रदल कमल के तीन दलस्तर हैं। प्रत्येक दल पर एक बुद्ध खुदा है।

भगवान् बुद्ध की सुन्दर विशाल मूर्ति महत्ता, वैभव और शान्ति की भावना उत्पन्न करती है। शरीर ओजःपूर्ण है। खेद है कि दोनों हाथ नष्ट हो चुके हैं और दोनों घुटने भी बहुत शीर्ण हो गए हैं। प्रभावमण्डल नावाकार है। मध्य में कमल, कमल के चारों ओर बौद्ध मूर्तियां और अग्नि-ज्वालाएं इसके अदभुत अलंकार हैं। यह निःसंदेह और निर्विवाद है कि बलशालिनी ओजस्विता में यह वैरोचन मूर्ति न केवल लुङ्मन् में किन्तु थाइ वंश की समस्त कला के क्षेत्र में उत्कृष्टतम मूर्ति है।

वैरोचन के बाईं ओर काश्यप और दाईं ओर आनन्द हैं। दोनों की ऊंचाई बीस हाथ से अधिक है। मुखमुद्रा शान्त और भद्रता लिए हुए है। काश्यप और आनन्द के साथ के दोनों बोधिसत्त्व भी सौम्यता की मूर्ति हैं। किन्तु इनमें भी उत्तमांग कुछ अधिक भारी और शरीर कुछ छोटा पड़ता है। यह भेद मूर्तिकारों की दक्षता का भेद है।

दक्षिण और उत्तर को भित्ति में खुदे 18 हाथ ऊंचे वज्रधर देवों की महती मूर्तियां अजेय, अदम्य भावनाओं की व्यञ्जक हैं। किन्तु जो कला-कौशल वैरोचन के निर्माण में

दिखाई पड़ता है वह न अर्हतों में, न बोधिसत्वों में, और न इन मूर्तियों में है। प्राचीन समय में मूर्तियों के ऊपर बितान रहे होंगे। भित्ति में बड़े स्तम्भों के लिए छिद्र बने हुए हैं।

बीसवीं गुहा औषध-योग गुहा है। द्वारा के दोनों ओर औषधों के योग दिए हुए हैं। इक्कीसवीं गुहा क्यू-याङ् तुङ् कहलाती है। शिलालेख के अनुसार राष्ट्र की समृद्धि के लिए इस गुहा का निर्माण किया गया था। गुहा आयताकार है। छत 20 हाथ ऊंची है। कुट्टिम पर दो हाथ मिट्टी भरी गई। 4 हाथ ऊंचे आसन पर शाक्यमुनि विराजमान हैं। आसनों को सिंहों ने उठाया हुआ है। पुरानी मूर्ति का जीर्णोद्धार करते हुए इतना अधिक लेप और रंग चढ़ाया गया है कि इसकी मौलिक शोभा सर्वथा मारी गई। मुख्य बुद्ध की ऊंचाई नौ हाथ है। मुख और परिधान की रेखाओं में मौलिक शोभा है। यदि मिट्टी का लेप ऊपर न किया जाता और उस पर रंग न पोते जाते तो मूर्ति की आभा पूर्ण रूप में दृष्टिगोचर हो सकती।

इस गुहा के शिलालेख केवल तिथियों और अन्य ऐतिहासिक सूचना के लिए ही प्रसिद्ध नहीं किन्तु सुलेख के लिए भी प्रसिद्ध हैं। हमने परस्पर भिन्न सौन्दर्यमय सुलेख की दृष्टि से ही 20 लेखों की छापें ली हैं। चीनी लेख-सौन्दर्य-विशारदों की दृष्टि से इनका मूल्य बहुत अधिक है।

श-खू-स्स गुहा पूर्वीय पहाड़ी में बनी है। बुद्ध आसन्दी में बैठे हैं। रूपाकृति भव्य है। यह मूर्ति थाङ् कला की उत्तम कृति मानी जाती है। बुद्ध की पीठ के पीछे एक यवनिका बनी हुई है जिसमें भारत की गुप्त कला की छाया झलक रही है। गुहा की भित्तियों पर वज्रच्छेदिका-सूत्र उत्कीर्ण है तथा एक सहस्र छोटी-छोटी बुद्ध मूर्तियां बनी हुई हैं। छत में कमल, उड़ती हुई अप्सराएं और मेघ शोभायमान हैं। कला के शत्रु व्यापारियों की लोलुपता से मूर्तियों के उत्तमांग लुप्त हैं।

हमको लुङ्मन् में जितना समय लगाना चाहिए था उतना तो न लगा सके किन्तु जो भी थोड़ा समय मिला उसमें लुङ्मन् की मनोरमता को नेत्रों द्वारा लगातार एकाग्र ध्यान से पान करते गए। और हृदय में बुद्धप्रतिष्ठित करते गए कि जीवन के शेष वर्षों तक इस रमणीयता का परिमल साथ रहे। यद्यपि लुङ्मन् चीन की भूमि पर स्थित है और इसका श्रेयस् और गर्व चीनियों को है और होना चाहिए तथापि लुङ्मन् भारत की आत्मा का ही तो खण्ड है। यहां चीनी प्रभाव और परिवर्तन अवश्य है किन्तु मूल और स्थूल दृष्टि से, आध्यात्मिक तथा कला की दृष्टि से इसमें भारत का भी हाथ है। लुङ्मन् में भारतीय वैभव के जो दर्शन हमको हुए उनसे हम कृतकृत्य होकर कोयले की खान की काली धूल से बचते हुए अपने निवास-स्थान पर लौट आए।

जिस रस और आनन्द का अनुभव, जिस प्राचीन और नवीन काल की एकता की भावना आज हुई वह पहले कभी न हुई थी। हमको ऐसा लगा जैसे कि हम पन्द्रह सौ वर्ष पार कर पार्थिव शरीर और नेत्रों सहित गुप्त काल में और गुप्त राष्ट्र में पदार्पण कर गए हों। यह अद्भुत और अविस्मरणीय है और रहेगा।

हक्कानिया मदरसे में कुछ दिन**

□ जेफरी गोल्डबर्ग

□ अनुवादक : शंकर शरण*

पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में खैबर दर्रे से पूरब ग्रांड ट्रंक रोड के किनारे दो घंटे की दूरी पर हक्कानिया मदरसा है। यह पाकिस्तान के सबसे बड़े मदसरों में से एक है। इसकी मस्जिद, कक्षाएं और छात्रावास आठ एकड़ जमीन में फैले हुए हैं। अभी इस में 2,800 से अधिक छात्र पढ़ रहे हैं। उनकी पढ़ाई, रहना और भोजन निःशुल्क है। मुख्यतः ये छात्र नितान्त गरीब तबकों से आते हैं, और मदरसा अपना खर्च धनी पाकिस्तानियों तथा फारस की खाड़ी के देशों के राजनीतिक रूप से सचेत मजहबी लोगों से उगाहता है।

छात्र 8-9 से लेकर 30, कभी-कभी 35 वर्ष तक के आयु वर्ग से हैं। सबसे छोटे बच्चे अपना दिन गैर-हवादार कमरों में फर्श पर घुटने मोड़कर कुरान रटकर याद करने में बिताते हैं। ये प्रक्रिया छः महीने से लेकर तीन वर्ष तक समय लेती है। यह जितना प्रतीत होता है उससे भी अधिक कठिन है क्योंकि वे कुरान मूल अरबी में पढ़ते हैं। जब कि उन्हें केवल पश्तो भाषा आती है जो पाकिस्तान के उस क्षेत्र तथा पास के अफगानिस्तान में रहने वाले अधिकांश पठानों की भाषा है। सामान्यतः कक्षा में शिक्षक उनके साथ फर्श पर बैठकर कुरान पढ़कर उन्हें सुनाता है और लड़के दुहराते हैं जो वह बोलता है। यह हरेक दिन चार से आठ घंटे तक चलता है।

पश्चिमी लोग जिन्हें हाई स्कूल और कॉलेज की उम्र के छात्र मानेंगे वे यहाँ कुरान और प्रोफेट मुहम्मद के कथन, हदीस की व्याख्या पर केंद्रित आठ वर्षीय पाठ्यक्रम में दाखिल हैं। ये छात्र इस्लामी कानून और इस्लामी इतिहास भी पढ़ते हैं।

* IV/28, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, नसीरपुर रोड, द्वारका, नई दिल्ली 110045।

** 49 वर्षीय जेफरी गोल्डबर्ग एक प्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार हैं। अभी वह बोस्टन से प्रकाशित द अटलांटिक से संबद्ध हैं। इससे पहले वे वाशिंगटन पोस्ट, द न्यूयार्कर और न्यूयार्क टाइम्स मैगजीन में काम कर चुके हैं। यह संस्करण उनकी अनुमति से हिन्दी में प्रकाशित हो रहा है। यह शंकर शरण लिखित “जिहादी आतंकवाद” नामक शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक (दिल्ली : राजपाल एंड सन्स) के आरम्भिक अध्याय के रूप में भी दिया जा रहा है।

हक्कानिया के सबसे वरिष्ठ छात्रचाहें तो उन्हें स्नातकोत्तर कह लें 'मुफ्ती पाठ्यक्रम' में दाखिल हैं। इस्लाम में मुफ्ती वैसा मौलवी है जिसे फतवा जारी करने की अनुमति है। फतवा मजहबी हुक्म है जिसका क्षेत्र परिवार संबंधी कानूनों से लेकर जिहाद या 'पवित्र युद्ध' छेड़ने तक के नियमों तक फैला हुआ है। (मदरसे के प्रशासन भवन के एक कमरे में लगभग 1,00,000 फतवे रखे हुए हैं जो इस मदरसे से अब तक के वर्षों में जारी हुए।) मुफ्ती पाठ्यक्रम में लगभग 600 छात्र पढ़ रहे हैं।

हक्कानिया मदरसे में बहुत कम छात्र हैं जो इस्लामी विषयों के सिवा कुछ और पढ़ते हैं। यहाँ विश्व इतिहास या गणित का कोई पाठ्यक्रम नहीं है, न कोई विज्ञान प्रयोगशाला या कंप्यूटर के कमरे।

हक्कानिया मदरसा वास्तव में एक जिहाद कारखाना है।

पर यह पाकिस्तान में कोई अनोखा संस्थान नहीं है। इस देश के कोई दस हजार मदरसों में लगभग दस लाख छात्र पढ़ रहे हैं जहाँ उग्रवादी इस्लाम ही मुख्य विषय है। कई मदरसे एक गाँव तक सीमित हैं जिसमें 25 से 50 तक छात्र पढ़ रहे हैं। कुछ मदरसे पाकिस्तान के मजहबी राजनीतिक दलों द्वारा चलाए जाते हैं। कुछ उन मुजाहिदीन संगठनों द्वारा चलाए जा रहे हैं जो कश्मीर में भारत के विरुद्ध जिहाद छेड़े हुए हैं।

हक्कानिया केवल अपने आकार के लिए ध्यान नहीं खींचता, बल्कि इसलिए भी कि यहाँ से अफगानिस्तान के अधिकांश सत्ताधारी तालिबान स्नातक होकर निकले हैं। इतनी संख्या में जितने वे दुनिया के किसी स्कूल, यहाँ तक की अफगानिस्तान के भी किसी स्कूल से नहीं निकले। तालिबान आज दुनिया भर में इस्लामी कानून की कठोर व्याख्या, स्त्रियों के प्रति क्रूरता और आतंकवादियों के प्रति सदयता के लिए जाने जाते हैं। तालिबानों को अंतहीन जिहाद की अवधारणा में गहरा विश्वास है। जिस कारण उन्हें दुनिया की राजधानियों जैसे वाशिंगटन, मॉस्को, नई दिल्ली और जेरुशलम में दिलचस्पी से देखा जाता है जहाँ विशेषज्ञ समझने की कोशिश कर रहे हैं कि ये तालिबान और इनसे सहानुभूति रखने वाले क्या चाहते हैं।

किसी भी समय मदरसे में कई सौ अफगान छात्र पढ़ते हैं। उनके साथ पूर्व सोवियत गणराज्योंकजाखस्तान, ताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान के दर्जनों छात्र तथा कुछेक चेचेनिया के भी होते हैं। जो लोग चेचेनिया में चल रही लड़ाई को केवल राष्ट्रीय भावनाओं नहीं बल्कि पैन-इस्लामिक भाव की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखते हैं जो क्षितिज पर एक नई इस्लामी क्रांति का उभार देख रहे हैं, जिसने दुनिया को हिला दिया था उस शिया क्रांति (ईरान) के बाद एक सुन्नी क्रांति उनके लिए हक्कानिया मदरसे में इतनी विदेशी उपस्थिति असहजकारी है।

हक्कानिया के अधिकांश छात्र स्वयं पाकिस्तान से ही आते हैं। यह तथ्य भी दुनिया को चिंतित करने वाला है। पाकिस्तान के इस्लामपंथी अधिकाधिक उग्र होते

जा रहे हैं, कुछ लोगों के अनुसार 'तालिबानीकृत' हो रहे हैं। इसका एक हद तक श्रेय हक्कानिया जैसे मदरसों को ही जाता है। इसके चिह्न दिखाई पड़ने लगे हैं कि पाकिस्तान की बुनावट टूट रही है। पाकिस्तान के पास परमाणु हथियार भी हैं। कई मुस्लिम उग्रवादी कहते हैं कि वे हथियार जिहाद के युद्ध भंडार में शामिल होने चाहिए। पता चला कि हक्कानिया के अनेक छात्र भी यही मानते हैं, उन्हें यही सिखाया गया है।

यही सब कारण थे कि मार्च महीने की एक धुँधली सुबह मैं हक्कानिया मदरसे के चांसलर, समीउल हक नामक एक मुल्ला, के पास मदरसे में दाखिला लेने के लिए पहुँचा। मेरा लक्ष्य सरल था : मैं अंदर से स्वयं देखना चाहता था कि यह जिहाद फैक्टरी क्या पैदा कर रही है।

मौलाना हकमौलाना का अर्थ होता है 'हमारे मास्टर' एक जाने-माने इस्लामपंथी हैं। उनके अमेरिका विरोधी विचार बहुत स्पष्ट हैं। वे देवबंदी (भारत में उत्तर प्रदेश के देवबंद स्थित मदरसे की विचारधारा के अनुयायी) हैं। देवबंदी आंदोलन भारत में ब्रिटिश काल में पैदा हुआ था जिसका दृष्टिकोण बहावी आंदोलन से भिन्न नहीं है। बहावी आंदोलन इस्लामी कट्टरवाद का कठोर, आधुनिकता विरोधी सऊदी रूप है जिसे ओसामा बिन लादेन ने अपनाया हुआ है। चांसलर महोदय बिन लादेन के दोस्त और समर्थक हैं, और उन्होंने तालिबानी नेता मुल्ला उमर को अपने मदरसे की एक मानद उपाधि प्रदान की है इस मदरसे के इतिहास में पहली और अकेली ऐसी घटना। समीउल हक एक राजनीतिकर्मी भी हैं, एक पूर्व सीनेटर और जमीयत उलेमा इस्लामी के एक गुट के नेता। यह एक उग्रपंथी इस्लामी राजनीतिक पार्टी है जो पाकिस्तान में शरीयत को पूर्णतः लागू करना चाहती है। कहा जाता है कि मौलाना पाकिस्तान को उनके शिष्य तालिबानों द्वारा बनाए गए अफगानिस्तान की तरह बना देखना चाहते हैं।

उनके विचारों के कारण और इस कारण भी कि सुना था कि मौलाना ने बिन लादेन द्वारा 1998 में दिए गए उस फतवे का अनुमोदन किया था जिसमें मुसलमानों से आह्वान किया गया था कि अमेरिकियों को जहाँ भी पाओ मार डालो मैं आश्वस्त नहीं था कि हमारा मामला कैसे चलेगा।

मुझे उनके दफ्तर के बाहर बीस मिनट तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। छात्रगण बगल से गुजरते और मुझे खोजी से लेकर दुश्मनी भरी तरह-तरह की नजरों से घूरते। अंततः मुझे मौलाना के दो बेटों, 31 वर्षीय हामिद और 27 वर्षीया राशिद जिस पर मदरसे की वेबसाइट डिजाइन करने की जिम्मेदारी है, ने अंदर चलने के लिए आमंत्रित किया। वहाँ मदरसे के और अनेक छात्र और शिक्षक भी आ जुटे। जब तक इंतजार होता रहा हम लोगों के बीच हलकी-फुलकी बातचीत हुई। मौलाना कमरे में कुछ तेजी से आए, और ठीक मेरी बगल में बैठे। वह पैसठ वर्षीय व्यक्ति हैं। वह नंगे पैर थे, और उनके

नाखून ऐसे लग रहे थे मानो उन पर जंग लगी हो। उनकी लंबी दाढ़ी चमकदार भूरे रंग से रंगी थी और सिर पर एक ढीला सा साफा रखा हुआ था। उनकी दो बीवियाँ और आठ बच्चे हैं, उन्होंने मुझे बताया, और शुरू से ही मुझे वह काफी खुश व्यक्ति दिखे। उन्होंने हलकी-फुलकी बाचतीच तुरंत बंद की, ताकि मैं सहजता महसूस करूँ।

‘असल में समस्या’, उन्होंने मुझसे कहा, “हमलोगों, मुसलमानों और ईसाइयों के बीच नहीं है”।

मैं समझ गया वे किधर जा रहे हैं, पर मैं चुप रहा।

“मुसलमानों और ईसाइयों के एकमात्र दुश्मन यहूदी हैं,” उन्होंने कहा, “ये यहूदी ही थे जिनने ईसा को सूली पर चढ़ाया था, तुम जानते ही हो। यहूदी इस्लाम से लड़ने के लिए अमेरिका का उपयोग कर रहे हैं। क्लिंटन तो अच्छा आदमी है, मगर वह यहूदियों से घिरा हुआ है। मेडेलिन ऑलब्राइट का बाप जियनवाद का संस्थापक था।”

“मैं एक यहूदी हूँ”, अब मैंने उन्हें बताया।

एक क्षण चुप्पी छाई रही।

“अच्छा, आपका यहाँ स्वागत है,” उन्होंने कहा।

तो इस तरह मैंने स्वागत पाया।

मौलाना ने मुझे एक प्रस्ताव दिया : मैं जितना समय चाहूँ मदरसे में बिता सकता हूँ, जहाँ चाहे जा सकता हूँ, जिससे चाहूँ बातचीत कर सकता हूँ, यहाँ तक कि उनके साथ कुरान का अध्ययन भी कर सकता हूँ। असल में वह एक बात प्रमाणित करना चाहते थे : उनका मदरसा तालिबानी विश्वविद्यालय भले ही हो, पर वह आतंकवादियों का प्रशिक्षण केंद्र नहीं।

कड़ाई से देखा जाए तो मौलाना हक सही थे। मैंने हक्कानिया मदरसे में एक भी हथियार नहीं देखा। सबसे नजदीक जहाँ बन्दूकें उपलब्ध थीं वह सामने ग्रांड ट्रंक रोड के पार खैबर दर्रा हथियार कंपनी का स्टोर था। वहाँ 40 डॉलर में शॉटगन और 70 डॉलर में एके-47 बिकती थी। और मदरसे में मैंने कभी बम बनाने या निशानेबाजी पर कोई लेक्चर होते नहीं सुना। लेकिन यह भी सच है कि जब तालिबान अपने स्थानीय प्रतिद्वंदी नॉर्डन एलायंस से लड़ाई में कुछ पिछड़ रहे थे तो मौलाना ने अपना मदरसा बंद कर दिया और लड़कों को उनकी मदद के लिए मोर्चे पर भेज दिया। (उन्होंने मुझे यह नहीं बताया कि वहाँ से कितने छात्र वापस नहीं लौटे।)

कक्षाएं भरी हुई थीं जब इस वसंत में मैं हक्कानिया पहुँचा था। उतने छात्रों से भरे हुए परिसर को देखते हुए वहाँ अधिकांश समय असामान्य रूप से शांति रहती थी। शहरी जीवन की हलचल वहाँ कभी घुसती नहीं प्रतीत होती थी। जो भी शोर आता था वह अधिकांश सामने ग्रांड ट्रंक रोड से, स्कूल के गेट के ठीक बाहर से। वहाँ ट्रक और बस सड़क पर स्थान के लिए गधे गाड़ियों और कभी-कभी ऊँट काफिलों से

स्पर्धा करती थीं और दुर्घटना से बचाव के लिए वे ब्रेक पर नहीं हॉर्न पर भरोसा करते थे।

मदरसे में कोई टेलीविजन या रेडियो मैंने नहीं देखा। लड़के सूर्योदय से पहले ही जग जाते थे ताकि मदरसे की मस्जिद में नमाज पढ़ सकें। छात्रावास खस्ताहाल और गंदे थे, वहाँ कोई जलपान गृह जैसा भी कुछ न था। छात्र रसोई के सामने अपनी प्लेट और चम्मच लिए कतार बाँध कर खड़े हो जाते थे और उन्हें चावल, करी और नान खिलाया जाता था। मदरसे में किसी स्त्री की उपस्थिति किसी रूप में नहीं थी। वहाँ कभी छात्रों के अभिभावकों या माता-पिताओं, भाई-बहनों आदि के आने, मिलने-जुलने के दिवस आदि भी नहीं थे। जैसे एक रूप में मैंने उस चीज की एक झलक देखी जिसे हम पश्चिम में छात्र जीवन कहते हैं। सभी पाकिस्तानियों की तरह वहाँ भी लड़के क्रिकेट के दीवाने थे। दोपहर बाद सड़क के पार मिट्टी के मैदान में वे क्रिकेट खेलते। वहाँ एक वॉलीबॉल का जाल भी लगा हुआ था। लेकिन दिन का अधिकांश इस्लाम को समर्पित था।

सबसे कम उम्र के छात्रों ने मुझे विशेषकर आकर्षित किया। वे अभी तक जिहादी विचारधारा की जकड़ में सख्त नहीं हुए थे, फिर भी उनके खेल में भी मदरसे की राजनीति समाहित हो चुकी थी। दो ग्यारह वर्षीय लड़के, दोनों अफगान शरणार्थी जो पेशावर से इस मदरसे में आए थे, सदैव मेरा पीछा करते जहाँ भी मैं जाता। उनके लुका-छिपी के खेल का रूप यह था कि किसी पेड़ के पीछे या अन्य छिपने की जगह से वे एकाएक कूदते, जोर से चिल्लाते, “ओसामा!” और मुझे गोली मारने का नाटक करते।

वे मेरे जूतों से भी आकर्षित थे। कक्षा में जूते नहीं पहने जाते थे, उन्हें कमरे से बाहर छोड़ दिया जाता। अधिकांश छात्रों के पास एक जोड़ी चप्पलें भर थीं। इसलिए मेरे टिम्बरलैंड जूते चर्चा का विषय थे, और एक बार मैंने अपने उन दोनों ग्यारह वर्षीय पीछे लगे लड़कों को मेरा जूता आजमाते पकड़ा। इन लड़कों के बारे में मैंने जानने की कोशिश की पर वे चुप लगा जाते। और मुझ पर ध्यान रखने वालेसमीउल हक के दफ्तर से प्रायः हमेशा कोई मेरे साथ रहता था, मेरी बातचीत सुनने के लिए नहीं चाहते थे कि मैं गहराई से यह जान सकूँ कि वे लड़के कैसे मदरसे में आए।

मदरसे में सबसे छोटे लड़के ताले-चाबी में बंद रखे जाते। वे तीनमंजिले छात्रावास में रहते जिस पर पुराने छात्र पहरा देते। मुझे यह देखने नहीं दिया गया कि वे कैसे रहते हैं। वे दोनों ग्यारहवर्षीय शरणार्थी थे, अंततः मुझे पता चला। एक का पिता अफगानिस्तान में मारा गया था। दोनों की माताएं जलावन की लकड़ियाँ बीनकर दिन बिताती थीं। वे बहुत गरीब थे। शरणार्थी शिविरों की तुलना में मदरसा मानो एक राजमहल था, और उन लड़कों का यहाँ पहुँचना उनका सौभाग्य ही था, जहाँ उन्हें हर

दिन खाना मिलता था। कोई और उन्हें पाकिस्तान की सरकार तो किसी हाल में नहीं भोजन, रहने का स्थान और शिक्षा देने वाला नहीं था।

स्कूल में दिन के समय मैं उन कक्षाओं पर विशेष ध्यान रखने की कोशिश करता जहाँ हदीस की पढ़ाई होती, क्योंकि इस्लामी विचारों का बहुतेरा उसी पर आधारित है। और इसलिए भी कि पारंपरिक रूप से हदीस को व्याख्या, बहस और बौद्धिक जाँच-पड़ताल के लिए खुला माना गया है। लेकिन हक्कानिया में ऐसी बात नहीं थी। जिन कक्षाओं में मैं उपस्थित था, यहाँ तक कि मुफ्ती पाठ्यक्रम की उच्चतर कक्षाओं में भी, पूरा तरीका वही था : एक शिक्षक, प्रायः लंबी सफेद दाढ़ी वाला कोई बूढ़ा आदमी, किताब से पढ़ता, और सभी छात्र सुनते। उसमें आगा पीछा कुछ न था। हर चीज को रट लेना मदरसे की पढ़ाई में एक मात्र तरीका प्रतीत होता था। एक कुछ अधिक ही उबाऊ कक्षा में मैं अपने अनुवादक को वहीं छोड़कर बाहर चला आया। बाहर बरामदे में दीवार से एक पोस्टर चिपकाया हुआ था। उस पर एक खुले तरबूजे की तस्वीर थी जिसके गूदे कुछ असामान्य तरीके से बिखरे हुए थे। ऊपर लिखा था, “अल्लाह की करामात : इस तरबूजे में सबसे ताकतवर अल्लाह का नाम लिखा हुआ है।”

कुछ समय के बाद मुझसे कक्षा में प्रश्न पूछा जाने लगा, अमेरिका और मेरे विचारों के बारे में। एक दिन, कक्षा में हदीस में वर्णित जकात संबंधी पाठ के बाद मुझसे ओसामा बिन लादेन के बारे में मेरा विचार पूछा गया। क्यों अमेरिका उससे क्षुब्ध है? यह बड़ी असहज स्थिति थी। एक मस्जिद में, एक मुल्ला द्वारा ली जा रही कक्षा में जहाँ लगभग 200 नंगे पैर, इस्लामी साफा पहने छात्र बैठे हों, वहाँ ऐसे सवाल का सामना करना।

मैंने कहना आरंभ किया कि लादेन का कार्यक्रम इस्लाम के एक मूल सिद्धांत का उल्लंघन करता है, जिसके अनुसार जिहाद में भी निर्दोष लोगों की जान जरूर बख्शनी चाहिए। जिहाद तो लड़ने वाले लोगों के विरुद्ध लड़ा जाता है, स्त्रियों और बच्चों के विरुद्ध नहीं। मैंने उन्हें पैगम्बर मुहम्मद का एक उपयुक्त वचन सुनाया (मैं हदीस की तैयारी करके आया था) : “इब्न उमर ने वर्णन किया था कि किसी लड़ाई में एक स्त्री मरी पाई गई, तब अल्लाह के पैगम्बर, उन पर शांति बनी रहे, ने स्त्रियों और बच्चों को मारने की मनाही की।”

उन्हें मेरा प्रोफेट को उद्धृत करना अच्छा नहीं लगा, और वे जोर-जोर से बोलने लगे, “ओसामा, ओसामा, ओसामा।”

जब वे चुप हुए, वे बारी बारी से बिन लादेन का बचाव करने लगे।

“ओसामा बिन लादेन एक महान मुसलमान है,” वली नामक एक छात्र ने कहा। “पश्चिम ताकतवर मुसलमानों से डरता है, इसलिए उसने ओसामा को अपना दुश्मन बना लिया है।”

मैं जानने को उत्सुक था कि वली कैसे ओसामा का इतना उत्साही प्रशंसक बना। आखिरकार, मदरसे में ऐसे किसी शीर्षक का कोई पाठ्यक्रम तो नहीं थाजहाँ तक मैं जानता था 'महान मुस्लिम ओसामा बिन लादेन के वचन'।

“ओसामा इस्लाम को काफिरों द्वारा दूषित होने से बचाना चाहता है,” उसने कहा। “उसे विश्वास है कि इस्लाम पूरी दुनिया के चलाने के लिए है। वह इस्लाम को दुनिया के लिए लागू करना चाहता है।”

मैंने उत्तर दिया कि कुरान तो कहता है कि “मजहब में कोई जबर्दस्ती नहीं है”। यह उन लोगों द्वारा अक्सर उद्धृत किया जाने वाला कथन है जो इस्लाम को मूलतः उदार और दूसरों के प्रति सहिष्णु मानते हैं।

वली : “जबर्दस्ती नहीं है। लेकिन पश्चिम मुसलमानों को काफिरों के अधीन रहने के लिए मजबूर कर रहा है, जैसे चेचनिया में।”

चूँकि छात्रों ने उस दिन की कक्षा को एक राजनीतिक सेमिनार जैसी स्थिति में बदल दिया था, मैंने भी अपना सवाल पूछने का निश्चय किया। मैंने पाकिस्तान के परमाणु बम का विषय उठाया। पाकिस्तान के इस्लामपंथी वहाँ के परमाणु कार्यक्रम के मुखर समर्थक रहे हैं। वहाँ की प्रमुख मजहबी पार्टी, जमाते इस्लामी, ने तो सरकार को समेकित परमाणु परीक्षण निरोध संधि (सी.टी.बी.टी.) पर दस्तखत नहीं करने के लिए अभियान चलाया है। तो मैंने छात्रों से पूछा कि क्या इस्लाम के नियम के अनुसार जिहाद में परमाणु बम का उपयोग उचित होगा।

“सभी चीजें अल्लाह से आई हैं,” एक छात्र ने कहा। “परमाणु बम भी अल्लाह से आया है, इसलिए उसका उपयोग होना चाहिए।”

मैंने तब पूछा : कौन चाहता है कि ओसामा बिन लादेन के पास परमाणु बम हो जाए? कक्षा में हरेक हाथ ऊपर उठ गया। छात्र हँसने लगे, और कुछ ताली पीटने लगे।

लेकिन, मैंने कहा, यदि परमाणु बम का प्रयोग किया गया तो निर्दोष लोग अवश्य ही मारे जाएंगे। यदि मान भी लें कि पश्चिमी देश या रूस मुसलमानों को अधीनता में रखे हुए हैं तो क्या इससे बिन लादेन और उसके समर्थकों को निर्दोष लोगों को मारने का अधिकार मिल जाता है?

“ओसामा ने कभी निर्दोष को नहीं मारा है,” एक छात्र, जिसका नाम गाजी था, उसने उत्तर दिया।

“लेकिन अगर तुम्हें इसका प्रमाण दिया जाए कि उसने मारा है, तब?”

“अमेरिकी कहते हैं कि उनके पास प्रमाण है, लेकिन वे तालिबान को वह प्रमाण देते नहीं।”

तब मैंने एक काल्पनिक स्थिति का चित्र खींचा। “अच्छा,” मैंने फिर पूछा, “यदि तुम्हें एक वीडियो दिखाया जाए जिसमें ओसामा एक स्त्री की हत्या कर रहा है। तब तुम क्या कहोगे?”

कुछ क्षण चुप्पी रही। तब फजलुर रजाक नामक छात्र खड़ा हुआ : “अमेरिकियों के पास मीडिया के सारे ट्रिक्स हैं। वे ओसामा का सिर किसी के भी शरीर पर लगाकर दिखा सकते हैं, और उससे ऐसा लगेगा कि वही मार रहा है जबकि उसने वास्तव में वैसा कुछ न किया है।”

तब मैंने अपनी नोट-बुक से अपना ब्रह्मास्त्र निकाला : यह वर्ष 1988 में बिन लादेन के संगठनद इंटरनेशनल इस्लामिक फ्रंट फॉर जिहाद एगेंस्ट ज्यूज एंड क्रूसेडर्सद्वारा जारी किया गया फतवा था। यह सऊदी अरब में अमेरिकी सैनिकों की उपस्थिति से संबंधित था। मैंने उन्हें वह मूल फतवा पढ़कर सुनाया जिसका अनुवाद इस प्रकार है : “अमेरिकियों और उनके सहयोगियोंचाहे वे सैनिक या असैनिक होंको मार डालना दुनिया में हरेक मुस्लिम का व्यक्तिगत कर्तव्य है। यह काम वह किसी भी देश में कर सकता है जहाँ भी उसके लिए ऐसा करना संभव हो। यह इसलिए जरूरी है ताकि अल अक्सा तथा दूसरे पवित्र मस्जिद को अमेरिकियों के चुंगल से छुड़ाया जाए, और इसलिए कि उनकी सेनाओं को हराकर सभी को इस्लामी धरती से बाहर कर दिया जाए, ताकि वे किसी मुसलमान को नहीं डरा सकें।”

तो यह बात सामने है, मैंने कहा, बिलकुल साफ शब्दों में : जहाँ लादेन स्पष्ट कर रहा है कि अमेरिकियों को मार डालो, सैनिक और असैनिक सभी को।

“ओसामा ने यह नहीं लिखा था,” एक छात्र जोर से चिल्लाया, “यह अमेरिकियों का गढ़ा गया बयान है।”

तब मैंने एक अंतिम प्रश्न पूछा। किसी और उद्देश्य से नहीं बल्कि मुख्यतः निजी दिलचस्पी के कारण : कि तुम क्या करोगे यदि तुम्हें पता चले कि सी.आई.ए. ने ओसामा को पकड़ लिया है और उस पर मुकदमा चलाने के लिए अमेरिका ले जा रहा है?

एक छात्र जिसने अपना नमा मुहम्मद बताया : “हम ओसामा के लिए अपनी जान कुर्बान कर देंगे। हम अमेरिकियों का मार डालेंगे।”

“किन अमेरिकियों को?”

“हरेक अमेरिकियों को।”

जब मैं वहाँ से निकला, तब मुहम्मद और उसके कुछ मित्र मेरे पास आए और मुझसे कहा, “हम चाहते हैं कि तुम इस्लाम कबूल कर लो,” उसने कहा, “हम तुम्हें पसंद करते हैं। हम चाहते हैं कि तुम मुसलमान बन जाओ।”

बाद में उस दिन मैं छात्रों में एक ऐसे समूह से मिला जिन्हें मैं पसंद करने लगा था। मुझे आशा थी कि अपने शिक्षक की नजरों से दूर होकर वे कुछ अलग तरह की बात करेंगे। कक्षा से बाहर कई बार पहले भी दिलचस्प बातें हो चुकी थीं। उदाहरण के लिए, मुझसे और मेरे सहयोगी फोटोग्राफर लॉरेंट वान डेर स्टोक्ट से सेक्स संबंधी कई बातें कही और पूछी जा चुकी थीं। कभी कभी संकेत से तो कभी बिलकुल उजड़्ड

रूप में यह सब कहा जाता था। जिन छात्रों को थोड़ी बहुत अंग्रेजी आती थी, वे हमसे ज्यादातर सेक्स संबंधी बातें ही करते थे। उनमें से अधिकांश को पूरा विश्वास था कि पश्चिमी लोग हर तरह के, और हर जगह, किसी भी समय काम-क्रिया में लिप्त हो सकते हैं। मुझसे अमेरिकियों के प्रिय आत्म-मैथुन तरीके के बारे में पूछा गया, और यह भी कि क्या अमेरिकियों को एक ही साथ लड़की और लड़के दोस्त रखने की अनुमति है।

तो उस दिन कक्षा में ओसामा की चर्चा के बाद भेंट होने पर उन लड़कों से सेक्स पर कोई बात नहीं हुई। उनमें काबुल के निकट के किसी गाँव के रहने वाले एक तेज छात्र ने अपना नाम सईद बताया। उसका भाई एक तालिबान जज था, जिसने उसी मदरसे में पढ़ाई की थी। जब मैंने सईद से उसका पूरा नाम पूछा तो उस ने कहा कि वह चाहेगा कि वहाँ शिक्षा पूरी करने के बाद उसे सईद हक्कानी नाम से पुकारा जाए। कई छात्र वहाँ से पढ़ाई पूरी करने के बाद अपने नाम के साथ हक्कानी जोड़ लेते हैं।

उस दिन मैंने उससे पूछा कि उसके माता-पिता इस मदरसे में उसके पढ़ने के बारे में क्या सोचते हैं, यह जानते हुए कि वहाँ पढ़कर वह मुजाहिद यानी जिहादी बन जा सकता है। अफगानिस्तान में नॉर्दर्न एलाएंस के विरुद्ध या भारत के विरुद्ध, कश्मीर में जिहाद में लग जा सकता है।

“वे जिहाद का समर्थन करते हैं,” उसने कहा।

“यदि तुम मारे जाओ तो वे क्या महसूस करेंगे?”

“वे बड़े खुश होंगे,” उसने कहा, “उन्हें बड़ा फख्र होगा। कोई भी बाप अपने बेटे का शहीद के रूप में मरना पसंद करेगा।”

यदि तुम नॉर्दर्न एलाएंस के विरुद्ध लड़ोगे तब तो मुसलमानों को ही मारोगे, मैंने कहा।

“वे मुसलमान जरूर हैं, मगर पागल हैं,” सईद ने उत्तर दिया।

उसके एक-दो दिन बाद, मैं मौलाना से मिला और उन्हें बताया कि उसके कुछ छात्र मानते हैं कि कुरान के अनुसार किन्हीं परिस्थितियों में आतंकवाद जायज है।

“इसका मतलब तुम नहीं समझते कि हम क्या पढ़ा रहे हैं,” उन्होंने बस एक क्षण के लिए माथा सिकोड़ कर कहा। “जिहाद और आतंकवाद के बीच बहुत बड़ा अंतर है।” उन्होंने मुझे साथ भोजन करने का निमंत्रण दिया, ताकि उस दौरान मेरी इस नासमझी पर और चर्चा हो सके। लेकिन मैंने क्षमा माँग ली क्योंकि उस दिन मुझे राजधानी इस्लामाबाद में किसी के यहाँ जन्म-दिन पार्टी में जाना जरूरी था।

वह एक सचमुच बड़ी पार्टी थी। उसमें केक खूब बड़ा सा था, वहाँ ढेर सारे भाषण हुए, पाकिस्तान के ‘चीफ एक्जीक्यूटिव’ जनरल परवेज मुशर्रफ समेत अनेक लोग उसमें उपस्थित थे।

केक वास्तव में बहुत बड़ा था। वैनिला शीट के उस केक पर नींबू के जमे रस की इबारत से पूरे केक पर लिखा हुआ था 'यौमे-तकबीर की दूसरी सालगिरह का जलसा'। यौमे-तकबीर का अर्थ था, 'अल्लाह की महानता का दिन' जो पाकिस्तान में 28 मई, 1998 के दिन के लिए नाम दिया गया था। इसी दिन पाकिस्तान ने परमाणु बम का विस्फोट किया था। इस प्रकार, वह जन्म-दिन पार्टी उस बम की सालगिरह के उपलक्ष्य में था, जिसे पाकिस्तानी सैनिक नेता ने आयोजित किया था।

“हम अल्लाह के आगे सिर झुकाते हैं जिसने 28 मई, 1998 को पाकिस्तान की महानता पुनर्स्थापित की,” पाकिस्तान के साइंस मंत्री अत्ता-उर-रहमान ने उस जन्मदिन कार्यक्रम के आरंभ में घोषणा की।

पाकिस्तान में उस बम को लेकर पागलपन सा छाया हुआ है। पाकिस्तान के हर सामान्यतः बड़े शहर में चौराहों पर वहाँ बनी दूर तक मार करने वाली मिसाइलों का वास्तविक आकार का मॉडल लगा हुआ है।

मुजफ्फराबाद में जो पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर की राजधानी है, वहाँ तो भारत की ओर निशाना लगाए मिसाइल की अनुकृति लगी हुई है। पाकिस्तान के तीन शहरों में जहाँ में गया, चगाई पहाड़ी का तीस फीट उँचा मॉडल लगा हुआ है। यह वही पहाड़ी है जहाँ पाकिस्तान ने अपने परमाणु बम का परीक्षण किया था। इस्लामाबाद में तो (बम का) ऐसा मॉडल है जो रात में अंदर से प्रकाशित होता है तीखे नारंगी रंग में जिससे वास्तविक विस्फोट की रंगत दिखाई पड़ती है। माता-पिता अपने बच्चों को उसके सामने खड़ा कर फोटो खींचते हैं।

उस पार्टी के दो दिन बाद मैं रावलपिंडी गया, जो इस्लामाबाद के बगल में ही है, क्योंकि मुझे जेनरल मुशर्रफ से बातचीत का अवसर दिया गया था। हम एक सुबह आर्मी हाउस में मिले, जो पाकिस्तान के सेना प्रमुख का निवास है। (जेनरल मुशर्रफ ने प्रधान मंत्री निवास स्थान में रहना नहीं चुना यद्यपि वह अक्टूबर से प्रधान मंत्री के रूप में ही कार्य कर रहे हैं।) उस बातचीत में मैंने जेनरल मुशर्रफ से पूछा कि क्या पश्चिमी देशों को इसकी चिंता होनी चाहिए कि पाकिस्तानी उग्रवादी मुसलमानों, चाहे वे सेना के अंदर के हों या बाहर के उनके हाथों में कभी परमाणु बम आ जा सकते हैं। (पेंटागन के अभ्यासों में अमेरिकी युद्धाभ्यासियों ने ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर तैयारी कर रखी है जब पाकिस्तान के हिंसक विखंडन की स्थिति में तालिबान किस्म के उग्रवादियों ने वहाँ के परमाणु बम को हथिया लिया हो।)

“बिलकुल असंभव,” जेनरल मुशर्रफ ने कहा, “वैसा होने का कोई सवाल ही नहीं है। गैर-जिम्मेदार लोगों के हाथ में परमाणु बम पड़ जाने का बिलकुल कोई सवाल ही नहीं उठता।”

मैंने उस यौमे-तकबीर के जलसे में दिखे मजहबी जोश का उल्लेख किया, खासकर साइंस मिनिस्टर की बातों का, कि पश्चिमी लोग इस तरह की टिप्पणी से असहज

महसूस करेंगे कि पाकिस्तान के परमाणु बम कार्यक्रम का संस्थापक अल्लाह है।

“हाँ, हम ‘अल्लाह की ख्वाहिश’ जैसे शब्दों का प्रयोग तो करते हैं,” उन्होंने कहा, “हम जरूर मानते हैं कि अल्लाह ही सबसे बड़ा संप्रभु सत्ताधारी है, और हम यह भी मानते हैं कि हम धरती पर उसी के प्रतिनिधि हैं। चूँकि हम धरती पर उस के प्रतिनिधि हैं इसलिए जो भी किया जाना है, वह तो उसकी शिक्षाओं के अनुरूप ही होगा। मगर जब हम ‘अल्लाह की ख्वाहिश’ कहते हैं तो उसका यह मतलब नहीं होता कि हम अपने दिमाग का उपयोग नहीं कर रहे हैं, कि हम बंदूक चलाने में मजे लेने वाले उग्रवादी हैं।”

जेनरल मुशर्रफ को कोई इस्लामी उग्रपंथी नहीं समझा जाता। उदाहरण के लिए, महिलाओं के बारे में उनके विचार प्रगतिशील समझे जाते हैं। फिर भी, कई बार उनकी बातें इस्लामी उग्रपंथियों जैसी ही लगती हैं। जैसे, जब वह मुझे ‘जिहाद’ और ‘आतंकवाद’ का विशेष अर्थ समझाने लगे।

“इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिहाद और आतंकवाद दो अलग-अलग चीजें हैं,” उन्होंने मुझे समझाया।

“पश्चिम में आप लोगों को ‘जिहाद’ शब्द से एलर्जी है, लेकिन जिहाद तो एक सहिष्णुतावादी धारणा है।”

मैंने जनरल से पूछा कि क्या वह बिन लादेन को आतंकवादी मानते हैं?

“यदि वह किसी भी तरह बम विस्फोट करवाने या हवाई जहाजों का अपहरण करवाने आदि में शामिल है तो वह जरूर आतंकवादी है।”

तब मैंने उनसे पूछा कि क्या उन्हें अमेरिकी दावे में संदेह है कि बिन लादेन एक आतंकवादी है?

“इस पर तालिबानों का एक अपना मत है। वे कहते हैं कि उन्हें उसके बारे में प्रमाण चाहिए, जो अब तक नहीं दिया गया है। हमने अमेरिका से प्रमाण माँगा है और हम वह पाने की प्रक्रिया में हैं। कानूनी दृष्टि से कहें तो मैंने अब तक कोई प्रमाण नहीं देखा है।”

जेनरल मुशर्रफ कहते हैं कि तालिबान-समर्थक पठानों के सहयोग की जरूरत है। पाकिस्तान में मजहबी राजनीतिक पार्टियों के पास सड़क पर बड़ी ताकत हासिल है, चाहे उन्हें चुनावों में बड़ी सफलताएं न भी मिली हों। उन पार्टियों को कश्मीर मामले पर भी लोगों की सहानुभूति हासिल है। कश्मीर की चर्चा वहाँ सेक्यूलर शब्दावली में होती रही है जहाँ किसी नव-उपनिवेशवादी उत्पीड़न के खिलाफ राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई चल रही है। लेकिन आज, उसी लड़ाई का जिक्र सीधे-साधे जिहाद के रूप में होता है। यह लगभग ऐसा ही है मानो अफगानिस्तान में सोवियतों के खिलाफ जिहाद खत्म हो जाने के बाद पेशेवर जिहादियों को इलाके में किसी नए जिहाद का उद्देश्य ढूँढना लाचारी थी।

खुद जेनरल मुशर्रफ भारत के खिलाफ लड़ाई को जिहाद कहते हैं, और पाकिस्तान के अंग्रेजी अखबार भी इस लड़ाई का जिक्र जिहाद की भाषा में ही करते हैं। उदाहरण के लिए, वहाँ एक अखबार में मैंने एक साधारण से समाचार को इस प्रकार पाया: सात 'मुजाहिदों' ने भारतीय सेना से लड़ते हुए 'शहादत को गले लगाया'। शहादत का अर्थ है मजहबी लड़ाई में शहीद होना और 'शहादत को गले लगाने' का साफ मतलब है कि वे मारे गए।

कश्मीर में जिहाद चलना जेनरल मुशर्रफ के लिए बड़ी भारी राजनीतिक मदद है। अंदरूनी झगड़ों में बँटे हुए पाकिस्तान जैसे देश के लिए कश्मीर में जिहाद लोगों को एक करने का ऐसा मुद्दा है जैसा और कोई नहीं। इसीलिए वहाँ के सैनिक शासकों ने जिहादियों को अपने ट्रेनिंग कैंप चलाने आदि के लिए उदारतापूर्वक छूट दे रखी है। रावलपिंडी में जेनरल मुशर्रफ से हमारी भेंट के दो सप्ताह बाद उनकी सरकार ने पाकिस्तान में उग्रवादी गुटों पर अंकुश लगाने और मदरसों की पढ़ाई को देश के शैक्षिक मानकों के अनुरूप लाने की घोषणा की। यह दोनों काम करने के लिए अमेरिकी सरकार मुशर्रफ को तभी से कह रही है जब से वह सत्ता पर काबिज हुए हैं। किंतु उस सुखद सवरे आर्मी हाउस की हमारी बातचीत में जेनरल मदरसों की ताकत के बारे में कोई विशेष चिंतित नहीं लगे। "उनमें से बहुत कम ही उग्रवादी कार्य-कलापों में लगे हुए हैं," उन्होंने मुझे बताया। अधिकांश तो बहुत ही मानवतावादी हैं। वे गरीब लड़कों को खाना और रहने की सुविधाएं देते हैं।"

उन्होंने उन संगठनों के कामों का भी बचाव किया जिसे अमेरिकी विदेश विभाग ने आतंकवादियों की सूची में डाल रखा है। विशेषकर फजलुर रहमान खलील के हरकत-उल-मुजाहिदीन का जो भारत के विरुद्ध हिंसक जिहाद में लगा हुआ है। माना जाता है कि इसी संगठन ने पिछले दिसंबर (1999) एक भारतीय विमान का अपहरण किया था। अमेरिकी विदेश विभाग ने हरकत-उल-मुजाहिदीन को आतंकवादी संगठन की सूची में रखा हुआ है। इसके अफगानिस्तान में ट्रेनिंग कैंप चल रहे हैं, पर इसके नेता खलील का रावलपिंडी में कार्यालय है, जेनरल मुशर्रफ के घर के निकट ही, और वह बड़े आराम से पाकिस्तान में घूमता-फिरता है।

"ये लोग आतंकवादी नहीं हैं," जेनरल मुशर्रफ ने कहा, "वे जिहाद लड़ रहे हैं।"

जेनरल मुशर्रफ से मेरे इंटरव्यू के दो दिन बाद मैं खलील से रावलपिंडी में मिला। हम देर रात को मिले थे, बस अड्डे के पास एक गंदे से ऑफिस में, और जूते उतारकर फर्श पर बैठे थे। वहाँ दीवार पर एक पोस्टर लगा था जिस पर बुलेट की गोलियों से सजा कर 'अल्लाह' शब्द लिखा हुआ था। खलील ने दाढ़ी बढ़ा रखी थी और वह अस्वाभाविक ढंग से शांत लग रहा था। उनसे मुझसे कहा कि उसे दुःख है कि उसके संगठन को आतंकवादी समझा जाता है। "इससे हमें बहुत खराब लगता है," उसने कहा। उसने इनकार किया कि उसके संगठन को उस भारतीय विमान

अपहरण का जिम्मेदार माना जा रहा है वास्तव में उसके लिए इस संगठन से “अलग हो चुका एक गुट” जिम्मेदार था, उसने बताया और उसने इससे भी इनकार किया कि उसके संगठन ने कश्मीर के युद्ध में कभी नागरिकों की हत्या की है।

“हमसे किसी को चिंतित होने की जरूरत नहीं,” उसने कहा, “सिवा जो इस्लाम का दमन करते हैं”।

मैंने खलील से पूछा कि यदि आपके हाथ में हो, तो क्या आप अपने दुश्मनों के विरुद्ध परमाणु हथियारों का उपयोग करेंगे?

“हमारे पास परमाणु हथियार नहीं हैं,” उसने मुसकुराते हुए कहा, “काश कि होता। यदि वह हमारे पास हो तो जरूरत पड़ने पर हम उसका प्रयोग करेंगे। पर वह बहुत महंगा है।”

मुझे बताया गया कि खलील दूसरे दिन अफगानिस्तान जाने वाला था, जलालाबाद, दूसरे उग्रवादी गुटों के सरदारों से मिलने के लिए जिन्हें वहाँ तालिबान ने जगह दे रखी है। हमारी भेंट के एक दिन पहले पाकिस्तानी अखबारों में खबर थी कि ओसामा बिन लादेन अपने अंगरक्षक बदलकर खलील के गुप के लड़कों को रख रहा है। खबर के अनुसार ये लड़के सच्चे मुसलमान हैं और बिन लादेन को सुरक्षित रखेंगे।

एक दिन मैं कार से पाकिस्तान की सीमा पार करके अफगानिस्तान में कंधार गया जिसे तालिबान का केंद्र कहा जाता है, जहाँ हक्कानिया मदरसे के अनेक छात्र अंततः पहुँचेंगे। कंधार से ही 1994 में तालिबान उठे और तेजी से काबुल पर कब्जा कर लिया। रास्ते में उन्होंने लड़कियों के स्कूल बंद किए, महिला डॉक्टरों को बर्खास्त किया और सजा के रूप में सार्वजनिक रूप से लोगों के हाथ-पाँव काट डाले। इस तरह अपने पैगम्बर के नाम को सामान्यतः बदनाम किया जिनके नाम पर वे यह सब करने का दावा कर रहे थे।

कार से यह लंबी यात्रा थी। बलूचिस्तान के मरुस्थल से होते हुए, खोजक दर्रे के पास अफगानिस्तान के मीलों लंबे मरु प्रदेश से होकर यह रास्ता जाता था। कंधार पहुँचने से पहले हवाई अड्डे के निकट बिन लादेन का एक घर था किंतु मेरे साथ के तालिबान ने मुझे वहाँ फटकने तक नहीं दिया। हम बाजार के चौक से आगे बढ़े जहाँ प्रत्येक रविवार कुश्ती प्रतियोगिता होती थी। यदि आपका समय का संयोग ठीक बैठे हो तो आप तालिबान के सर्वोच्च नेता मुल्ला उमर की एक झलक पा सकते हैं, जो रंगीन शीशे वाली अपनी काली पजेरो सुव (स्पोर्ट्स यूटिलिटी वेहिकल) गाड़ी में उधर से गुजरते हुए कभी-कभी कुश्ती के दो-एक दौर देखने वहाँ रुक जाता है। अगर वह अच्छे मूड में हुआ तो कभी वह अपने अंगरक्षकों को स्थानीय पहलवानों को चुनौती देने भी भेज देता है।

हम बढ़ते गए और चेचेन दूतावास से आगे जल्द ही मुहम्मद के आदरणीय लबादे के पवित्र भवन के अहाते के पास पहुँच गए। अफगान मुस्लिमों के बीच

तालिबान अपनी वैधता स्थापित करने में इस स्थान का खूब उपयोग करते हैं। मुहम्मद का लबादा संगमरमर के एक संदूक में तालाबंद है जो शहर के बीच इस एकमंजिले भवन में स्थित है। कंधार के लोगों को विश्वास है कि मुहम्मद ने वह लबादा पहना था, और इसलिए उन्हें भरोसा है कि उस लबादे के निकट पहुँचकर बीमार स्वस्थ और लंगड़े ठीक हो जाएंगे। उन्हें यह भी विश्वास है कि लबादे के वर्तमान संरक्षकों को इससे इस्लामी वैधता मिलती है। हक्कानिया मदरसे में इस लबादे के बारे में खूब बातें होती हैं।

लगभग पिछले ढाई सौ वर्ष में, जब पहली बार उसे अफगान सरदार अहमद शाह दुर्रानी के अनुयायियों द्वारा लाया गया था, अब तक वह लबादा केवल तीन बार अपने संदूक से निकाला गया था। अंतिम बार यह 1994 में निकला था जब मुल्ला उमर ने एक रैली में अपने समर्थकों के बीच उसे पहना था। मुहम्मद का लबादा पहनने के उसके निर्णय को आसानी से मजहब का अपमान और कुफ्र कहा जा सकता था। लेकिन घटनाएँ उसके पक्ष में गईं, और उस दिन उसकी स्थिति और मजबूत हो गई तथा मजहब के कमांडर के रूप में उसका सिक्का जम गया।

उस पवित्र भवन के अंदर जाना आसान नहीं है जिस में लबादे वाला संदूक सुरक्षित रखा गया है। पहले तो मेरे साथ नजर रखने वालो तालिबान के मुल्ला, जिस का नाम हाजी मुहम्मद था, उसने मुझे अंदर जाने के प्रयास में मदद करने से इनकार कर दिया। मुल्ला मुहम्मद, जिसने स्वीकार किया कि अभी तक वह मुल्ला बना नहीं था क्योंकि अभी उसने अपनी अंतिम परीक्षा पास नहीं की थी, एक नाटा रूखा आदमी था जिसे कुछ समय नहीं आ रहा था कि मैं क्यों उस लबादे वाले पवित्र भवन में जाना चाहता हूँ। दूसरी समस्या थी : दीनी गुण का प्रसार और अवगुण का दमन करने वाली कमिटी के लोग, जो काली पगड़ी और आँखों में सुरमा लगाए हुए थे (ताकि अधिक खूँखार दिखें), वे उसके गेट पर पहरा दे रहे थे। वे लोग विदेशियों से तीव्र घृणा करते हैं।

पहली बार जब मैंने वह भवन देखना चाहा था, तो मेरे साथ फोटोग्राफर भी था, नीना बर्मन। वहाँ के चलन के अनुरूप नीना ने तो मिसेज खुमैनी जैसा लिबास पहन रखा था किंतु तालिबान के लोगों को मानो फिर भी वह जेनिफर लोपाज-सी लगी। हम लोगों को कठोरता पूर्वक अंदर जाने से मना कर दिया गया। हालाँकि हम लोग दाँत दर्द वाले पेड़ को छूने में सफल हो गए।

कंधार के लोग जब दाँत में दर्द महसूस करते हैं तो इस पवित्र भवन के पास खड़े मृत पेड़ में एक कील ठोक आते हैं। इसलिए इस पेड़ का इंच-इंच हजारों कीलों से गड़ा हुआ है।

मेरे साथ के अनुवादक ने समझाया कि पेड़ में सचमुच वही बात है जो कही जाती है। उसे एक बार दाँत में दर्द हुआ और उसने जैसे ही उस पेड़ में कील ठोका बस दाँत बिलकुल ठीक हो गया। मैंने उसके मुँह में झाँक कर देखा। उसमें 'दाँत'

कहने लायक कुछ नहीं था, बस हड्डी के कुछ पीले टुकड़े जिसे कंधार नामक उस पिछड़े अंधविश्वासी स्थान में ही दाँत कहा जा सकता है। छः वर्ष शासन कर चुके तालिबान में जिहाद लड़ने की चाहे जितनी बुद्धि हो, अफगानिस्तान के लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएं दे सकने में वे एकदम निकम्मे थे।

उस दिन बाद में फिर मैं अनुवादक के साथ लौटकर वहाँ पहुँचा ताकि उस लबादे वाले भवन को जरा अच्छी तरह से देख सकूँ। लेकिन वह मेरे साथ नहीं गया। “अच्छा हो यदि हमलोग कार में ही रहें,” उसने कहा, और तब मैं समझा कि वह कितना डरा हुआ था। वह तालिबान से डरा हुआ था और मुल्ला मुहम्मद से भी जो बहुत हीले-हवाले के बाद ही फिर उस अहाते में मेरे साथ आया था। हम उस भवन के द्वार तक पहुँच गए, लेकिन वहाँ पंद्रह एक के करीब जवान खड़े थे, हाथों में मोटी लाठियाँ लिए हुए। मैं मुहम्मद की ओर मुड़ा ताकि वह उनसे मेरे लिए कुछ कहे, मगर वह इस बीच गायब हो गया। वे जवान क्रोधित थे, और उन्होंने मुझे ‘काफिर’ कहा। फिर उन्होंने मुझे अहाते से भगाकर बाहर कर दिया।

मैं कार तक पहुँचा, और हम लोग तेजी से चल पड़े। “कार में बैठे रहना ही अच्छा था”, मेरे अनुवादक ने उदासीनता से कहा।

मैंने मुल्ला मुहम्मद से पूछा क्या हम ओसामा बिन लादेन का घर देख सकते हैं। उसने कहा नहीं। तो क्या मुल्ला उमर का घर देखा जा सकता है? नहीं। लेकिन मैं पहले से जानता था कि वह मेरे ये निवेदन ठुकरा देगा। पर मैं चकित हुआ जब उसने मुझे जिहादी मदरसा के निकट लाने से भी इनकार कर दिया। इस मदरसे में मुल्ला उमर भी पढ़ा हुआ है और यह कंधार के सबसे बड़े मदरसों में से एक है। “मदरसे में गैर-मुस्लिमों को जाने की अनुमति नहीं है,” उसने कहा, “यह कुरान के खिलाफ है।” विलकुल बकवास। कुरान या हदीस में ऐसा कहीं नहीं कहा गया कि स्कूल भवनों में जाने से काफिरों को रोका जाना चाहिए और ये बात मैंने उनसे कही। उसने मुझसे पूछा कि मैं यह बात कैसे जानता हूँ।

“क्योंकि मैंने कुरान पढ़ा है,” मैंने उत्तर दिया।

“अरबी में?”

“नहीं, अंग्रेजी में।”

“क्या अंग्रेजी में कुरान छपी है?” उसने पूरी संजीदगी से जानना चाहा।

दूसरे दिन, जड़ता के स्तर तक निराश होकर, मैंने तालिबान के विदेश मंत्री से मुल्ला मुहम्मद के विचित्र विचारों की शिकायत की।

“इसमें दोष क्लीटन प्रशासन का है,” विदेश मंत्री मुत्तावकील ने कहा। यह विदेश मंत्री नितान्त अनाकर्षक व्यक्ति है। उसकी दाढ़ी चढ़कर लगभग आँखों के नीचे एक इंच से शुरू हो जाती है। उसे तालिबानों में नफीस समझा जाता है, कुछ उदार जैसा नया चेहरा। उसे सामान्य बातचीत के स्तर पर लाना कठिन है, और इसलिए उसे

सामान्य बनाने के लिए मैंने पूछा कि उसके कितने बच्चे हैं। “मेरे चार लड़के और एक लड़की है,” उस ने कहा, और फिर अपने आप यह जोड़ा : “मैं लड़की को सबसे ज्यादा चाहता हूँ”। तालिबान भी ऐसी बात कर लेते हैं।

मुत्तावकील मुल्ला मुहम्मद के साथ मेरी परेशानी समझ रहा था। “उसका व्यवहार दुखद है,” उसने कहा, “लेकिन हमारे बहुत से जवान लोग मिसाइल हमलों और ओसामा बिन लादेन के बारे में अनुचित आरोपों के कारण अमेरिका के बारे में बहुत बुरा सोचते हैं। इसलिए वे अमरीकियों के साथ खुलना नहीं चाहते।”

दूसरे शब्दों में, तालिबानों में विचित्र पागलपन अमेरिका का पैदा किया हुआ है?

“हाँ, हमने आपका कुछ नहीं बिगाड़ा है, लेकिन आप हमें अपना दुश्मन मान कर व्यवहार कर रहे हैं।”

मुत्तावकील कोई अमेरिका का प्रशंसक नहीं है। “अमेरिका में माता-पिता बच्चों को प्यार नहीं करते,” वह मुझे ही सूचित करता है लेकिन उसने यह भी कहा कि सामान्य अफगान उसके इन विचारों से सहमत नहीं हैं। वे सीवियतों के विरुद्ध लड़ाई में मुजाहिदीनों को अमेरिका द्वारा दी गई मदद के कारण अमेरिका के प्रति अच्छा महसूस करते हैं।

लेकिन मुल्ला मुहम्मद ऐसा कुछ नहीं महसूस करता है। विदेश मंत्री से बातचीत के दो-एक दिन बाद में मुहम्मद से पूछता हूँ कि वह अमेरिका के बारे में क्या सोचता है।

“अमेरिका ओसामा को मार डालना चाहता है,” उसने कहा। “ओसामा मुसलमानों के लिए महान नायक है।”

क्या अमेरिका में कुछ अच्छा है?

वह कुछ देर सोचता है।

“कैंडी,” वह अंततः उत्तर देता है। “कैंडी अमेरिका से आती है। मुझे कैंडी पसंद है।”

शायद मैंने अब तक यह नहीं बताया कि मुल्ला मुहम्मद सत्रह वर्ष का है।

चूँकि उसमें और पाकिस्तानी मदरसों वाले लड़कों में बहुत कुछ समानता है और चूँकि मुझे तालिबानों के मजहबी रहस्य की खुदाई करने की अनुमति मिलने की कोई आशा नहीं है मैं मुहम्मद से उसके जीवन के बारे में पूछने लगता हूँ। वह कंधार में जन्मा था, उसने बताया, लेकिन क्वेटा के पास कुछ समय तक रहा था। यह पाकिस्तान के उन शहरों में से है जहाँ अफगान युद्धों के समय लाखों-लाख शरणार्थी आकर बसते रहे हैं। वह पूरे जीवन मदरसों में ही पढ़ता रहा है। उसने कभी गणित, साइंस, अंग्रेजी, इतिहास या कंप्यूटर आदि की पढ़ाई नहीं की। उसने नौ वर्ष की उम्र

में ही कुरान रट लिया। लेकिन उसने इसे अरबी में रटा जबकि उसे केवल पश्तो भाषा आती है। अतः उसने जो कुछ रटा है वह केवल कुछ ध्वनियाँ हैं।

मैं उससे पूछता हूँ कि क्या उसने कुरान के अलावा कोई किताब पढ़ी है?

“हाँ,” वह उत्तर देता है। “हदीस की एक किताब।”

“क्या तुम कोई और किताब पढ़ना चाहते हो?”

“नहीं। क्यों?”

मैं उससे पूछता हूँ कि क्या वह किन्हीं स्त्रियों से मिला है।

उसकी बहनें, वह बताता है।

कोई ऐसी स्त्री जो उसकी रिश्तेदार नहीं, उसे जानता है?

नहीं।

मुझे पता चलता है कि किशोर होने के बाद वह अपनी माता से भी नहीं लिपटा है। वह संगीत नहीं सुनता, उसने कभी कोई सिनेमा भी नहीं देखा।

मैं उससे पूछता हूँ कि उसे भविष्य से क्या आशाएं हैं। वह बताता है कि वह पहले ही मुजाहिदीनों के साथ नॉर्दन एलाएं (तालिबान विरोधी एक अफगान ग्रुप) से एक बार लड़ चुका है, और फिर लड़ सकता है।

अगर वह उस लड़ाई में शहीद न हुआ तो आगे क्या करेगा?

“मैं अपने काम पर लौट जाऊँगा।”

तुम सूचना मंत्रालय में काम क्यों करना चाहते हो?

“यह मेरा नियमित काम नहीं है,” मतलब मेरी देख-रेख करना जो अभी वह कर रहा था।

तो तुम कहाँ काम करते हो?

“मैं एक शिक्षक हूँ।”

तो मुल्ला मुहम्मद नौ वर्ष के बच्चों को कुरान पढ़ाया करता है।

तो मौलाना समीउल हक ने अपने नौ वर्षीय छात्रों, और जो भी उस मदरसे में दाखिल है, उन सबको यह सब पढ़ाते हैं कि अमेरिका यहूदियों के नियंत्रण में है, उसने मुझे कोई बातचीत में बताया, और स्वयं वे यहूदी शैतान द्वारा नियंत्रित हैं। उसका पूरा दृष्टिकोण पैगम्बर मुहम्मद की सीख की उसकी समझ से बना है। हालाँकि उदारवादी मुसलमान कह सकते हैं कि यह दृष्टिकोण किसी और चीज से बना है।

समीउल हक के अनुसार यह दुनिया दो अलग और आपस में शत्रुपूर्ण क्षेत्रों में बँटी हुई है: दारुल हरब और दारुल इस्लाम। दारुल हरब है ‘लड़ाई का क्षेत्र’। दारुल इस्लाम है उम्मत, यानी दुनिया का पूरा मुस्लिम समुदाय। इस समुदाय से भिन्न जो कुछ है वह दारुल हरब है। 1980 वाले दशक में कट्टरपंथी मुस्लिमों के लिए सोवियत संघ दारुल हरब का जीवंत प्रतीक था। आज वह संयुक्त राज्य अमेरिका है।

यह कैसे हुआ, कि जिस अमेरिका ने सोवियतों के खिलाफ जिहाद आंदोलन को मदद दीकुछ लोग कहेंगे कि उसे पैदा ही कियावही आज पक्के मुस्लिमों के लिए शत्रु नं. 1 हो गया है? यह सवाल उन मुश्किल सवालों में से एक है जिस से अमेरिकी नीति निर्माता और दर्जन भर मुस्लिम देशों के नेता जूझ रहे हैं।

एक विचार, समीउल हक जैसे लोगों का विचार, कहता है कि यह अमेरिकियों की गलती है : अमेरिकी साम्राज्यवाद और अमेरिकी सामाजिक और सेक्स संबंधी मूल्य इसके लिए दोषी हैं। दूसरा विचार मानता है कि इस्लाम अपने स्वभाव से ही स्थायी रूप से दूसरी सभ्यताओं के साथ प्रतियोगिता में रहता है। इस सिद्धांत को हार्वर्ड विश्वविद्यालय के सैमुअल हंटिंगटन ने प्रतिपादित किया है, जिन्होंने “इस्लाम की खूनी सीमाएं” नामक मुहावरा दिया है। इसका अर्थ है कि जब भी इस्लाम दूसरी सभ्यताओं से मिलता है यहूदी, ईसाई, हिन्दूतो युद्ध शुरू हो जाता है।

समीउल हक जैसे लोग इस विचार की खिल्ली उड़ाते हैं। मगर मजे की बात है कि फिर भी वे दुनिया को उसी तरह काले और सफेद में बँटी देखते हैं, जिसमें इस्लाम अकेले दुनिया के सारे काफिरों (या कट्टरपंथियों की भाषा में ‘क्रूसेडरों’) के विरुद्ध खड़ा है। इन काफिरों में ईसाई तो हैं ही, लेकिन यहूदी और हिन्दू विशेषकर शामिल हैं। अनेक पाकिस्तानियों की तरह हक, यहाँ तक की कुछ सेक्युलर मिजाज वाले पाकिस्तानियों को भी विश्वास है कि अमेरिका की नीतियाँ एक यहूदी-हिन्दू षड्यंत्र से निर्देशित हो रही हैं। (कट्टर इस्लामपंथियों की सहानुभूति रखने वाले पाकिस्तानी खुफिया सेवा के एक पूर्व-प्रमुख हामिद गुल ने मुझे कहा कि इजराइल समर्थक लॉबी ए.आई.पी.ए.सी. यानी अमेरिकन इजराइल पब्लिक अफेयर्स कमैटी ही पाकिस्तान के प्रति अमेरिकी नीति का निर्धारण करती है। हिन्दुओं की एक जाति का उल्लेख करते हुए उसने कहा, “यहूदियों और ब्राह्मणों में बहुत कुछ समान है।” मैंने पूछा, “जैसे?” उसने शाइलॉक की तरह हाथ मलते हुए उत्तर दिया, “सूदखोरी”।)

समीउल हक की विश्व-दृष्टि में पश्चिम के देश इस्लाम के संदेश के प्रति पक्के तौर से शत्रुतापूर्ण हैं, इसलिए जिहाद की जरूरत कभी खत्म होने वाली नहीं है।

जिहाद की अवधारणा के प्रति पश्चिम में भारी गलतफहमी है। इसका मतलब केवल मजहबी या ‘पवित्र युद्ध’ ही नहीं है। इसका मूल अर्थ है ‘संघर्ष’, और पारंपरिक इस्लामी समझ के अनुसार जिहाद दो तरह का होता है बड़ा और छोटा। ‘बड़ा जिहाद’ है अच्छा मजहबी बनने के लिए किसी की आत्मा में चलने वाला संघर्ष, यानी अंदर के शैतान से संघर्ष। जबकि ‘छोटा जिहाद’ है बाहर के शैतान से संघर्ष : उनके खिलाफ सैनिक चुद्ध जो मुसलमानों को अपने अधीन करते हैं।

जब भी मैं कहीं भी किसी मुस्लिम कट्टरपंथी से मिलता हूँ तो मूर्खतापूर्ण लगने वाला यह प्रश्न अवश्य पूछता हूँ : कौन सा जिहाद इस्लाम के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, बड़ा जिहाद या छोटा जिहाद? इसका उत्तर, प्रायः, एक कृपादृष्टि के साथ, कुछ इस

तरह मिलता है, “इसे ‘बड़ा जिहाद’ ऐसे ही नहीं कहा जाता।” बाहरी शैतान के साथ तो लड़ाई कभी चढ़ती है, कभी उतरती है पर अंदर की शैतानी प्रवृत्ति से तो लड़ाई सदैव चलते रहती है।

किंतु मौलाना हक और पाकिस्तान और अफगानिस्तान के मुल्लाओं के साथ बातचीत में मैं हमेशा एक भिन्न उत्तर पाता हूँ। हक ने कहा, “दोनों का बराबर महत्त्व है।” उनके अनुसार, “मुसलमानों का दमन करने वालों के विरुद्ध जिहाद तो निश्चित रूप से हमारा कर्तव्य है। इस्लाम ऐसा मजहब है जो अपनी रक्षा स्वयं करता है।” ऐसे मुल्लाओं के लिए बाहर के शैतान के खिलाफ दुनिया भर में जिहाद करना एक स्थायी, बल्कि सर्वप्रमुख महत्त्व का काम है। इससे मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि गाजा पट्टी के हमास नेता, या मिस्र में मुस्लिम ब्रदरहुड जैसे आतंकी संगठनों के लोग भी इस सवाल का ऐसा उत्तर नहीं देते।

(तालिबान नेता मुल्ला उमर के विचार मौलाना हक जैसे ही हैं। मुल्ला उमर ने गैर-मुस्लिमों से मिनले से भी इनकार कर दिया है, हालाँकि ऐसा कुछ भी कुरान या हदीस में नहीं है। पर जब मैंने उससे जिहाद के बारे में लिखित रूप से पूछा, तो उत्तर में उसने लिखा, “दोनों जिहाद का अपना महत्त्व है। एक में कोई अपने अंतर को सुधारता है, और दूसरे में वह अपने मजहब की रक्षा करता है।”)

जब मैंने समीउल हक से पूछा कि वह क्यों छोटे जिहाद को अधिक महत्त्व देता है तो उसने कहा : “इस्लाम सीमाओं में बँधा मजहब है। इस्लाम के चार खंभे हैं। हज यानी मक्का की यात्रा, आपको एक बार जरूर करनी है, किंतु जब आपके पास साधन हों। इसकी भी सीमा है कि आप दान में कितना देते हैं। नमाज हम दिन में केवल पाँच बार पढ़ते हैं। उपवास हम केवल एक महीना, रमजान में करते हैं। लेकिन जिहाद, इसकी कोई सीमा नहीं है। जिहाद बिना किसी सीमा में बँधे करना है। जिहाद में कोई समझौता नहीं।”

जो आज जिहाद किधर चल रहा है? भारत के खिलाफ?

“हाँ”। कश्मीर को आजाद कराना एक पवित्र मजहबी संघर्ष है।”

तब उसने कहा कि आज जिहाद सर्बिया, रूस और इजराइल के खिलाफ चलाना जरूरी है, और नॉर्दन एलायंस के खिलाफ जो अफगानिस्तान में तालिबान के दुश्मन हैं।

मैंने उससे तालिबान के बारे में तरह-तरह के सवाल पूछे थे क्यों वह सब कर रहे हैं जो वे कर रहे हैं?

अंत में वह चिढ़ गया : “सुनो, अगर तुम अमरीकी लोग हों तालिबान के बारे में परेशान करना नहीं छोड़ोगे, तो हम उन्हें परमाणु हथियार दे देंगे। तब तुम्हारे लिए कैसा रहेगा?”

उसने यह भी कहा कि अमेरिका के खिलाफ जिहाद चलाना जरूरी है, क्योंकि उसने सऊदी अरब पर “कब्जा” कर रखा है।

यह जिहाद ओसामा बिन लादेन की विशेष सनक है : सऊदी अरब से अमेरिकी सैनिकों को निकाल बाहर करना, जो सऊदी शासक के निमंत्रण पर वहाँ रह रहे हैं। समीउल हक का कहना है कि ये सैनिक वहाँ की पवित्र जमीन को गंदा कर रहे हैं। इसलिए जिहाद जरूरी है। और उसके लिए उसके अनुसार इस जिहाद में वे अमेरिकी सैनिक निशाने पर होंगे।

मैंने पूछा कि क्या वह यही सब अपने हजारों छात्रों को मदरसे में सिखा रहा है।

“हमारे छात्र इस्लाम पढ़ रहे हैं। यह कोई सैनिक स्कूल नहीं है।”

मौलाना हक का रहस्य यह नहीं था कि हक्कानिया मदरसा आतंकवादियों का ट्रेनिंग कैंप है। और तालिबान का रहस्य भी मुहम्मद के लबादे के पवित्र भवन में नहीं है। रहस्य तो उन दो ग्यारह वर्षीय लड़कों के मुझ पर हाथों से बंदूक का निशाना लगाने के खेल में निहित है, और उस मस्जिद में लड़कों द्वारा ओसामा बिन लादेन के पक्ष में हाथ खड़े करने में, और कंधार में मुझ पर नजर रखने वाले सत्रह वर्षीय मुल्ला मुहम्मद के व्यक्तित्व में है जिसे कुरान छोड़कर किसी चीज में दिलचस्पी नहीं, और उसके जैसे लाखों युवकों में है जो पाकिस्तान से अफगानिस्तान के मदरसों में रह रहे हैं। यह सब गरीब और आसानी से प्रभावित होने वाले लड़के हैं जिन्हें दुनिया से दूर पूरे अज्ञान में रखा जाता है, और जो इस कारण, इस्लाम की एक विशेष व्याख्या के अलावा हर चीज से प्रायः अनजान हैं।

वे एकदम पक्के जिहादी मशीन हैं।

उपन्यास का वर्तमान और नई संवेद्यता

□ पुष्पपाल सिंह*

‘वर्तमान’ का काल-खण्ड बहुत अल्प और सीमित है, शीघ्र ही वह ‘अतीत’ हो जाता है, किन्तु इसका एक अर्थ ‘चालू या मौजूदा समय में’ भी है, अर्थात् इस शीर्षक से उपन्यास के हाल-फिलहाल, वर्तमान, की चर्चा की जा सकती है, इस वर्तमान को प्रस्तुत संदर्भ में हम पिछले लगभग 10 बरसों तक ही सीमित रखना चाहेंगे। लेख की परिमिति में इससे अधिक समय के विस्तार में जाना सम्भव नहीं होगा। उपन्यास की रचनाशीलता को समग्रता में पूर्ण वस्तुनिष्ठ दृष्टि से और समस्त कृतियों के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने में एक बड़ी बाधा यह रही है कि इस विधा में सृजन बहुत तेजी से होता रहा है और हो रहा है। प्रकाशन जगत की व्यावसायिक दृष्टि और विपणन की स्थितियों ने भी उपन्यास-रचना और प्रकाशन को खूब प्रोत्साहित किया है। उपन्यास समीक्षा का संकट एक और कारण से भी घबराया है, उपन्यास के वृत्तांत को अनावश्यक रूप में महावृत्तांतिक रूप देने का प्रचलन निरंतर बढ़ता जा रहा है। प्रकाशकीय माँग और आग्रह तथापु पुरकारकामी लेखन ने महा उपन्यास लिखने की महाबीमारी फैला दी है, चाहे लेखक उस कथा-विस्तार को चारों खूँटों को अच्छी तरह बाँध पाए या न बाँध पाए। पिछले कुछ वर्षों के कुछ लखटकिया, पाँच लाख टकिया पुरस्कारों पर दृष्टि दौड़ाएँ तो स्पष्ट होगा कि वे सब पृथुलाकार उपन्यासों पर ही गए हैं। यहाँ कहने का तात्पर्य यह बिलकूल नहीं है कि आकार उपन्यास की श्रेष्ठता का निर्धारण कर सकता है या वृहदाकार उपन्यास, द्विखंडी या कई खण्डी उपन्यास लिखे ही नहीं जा सकते अपितु कहना हम यह चाहते हैं कि उपन्यास को अनावश्यक विस्तार देने की फैशन-प्रवृत्ति साहित्य की दृष्टि से अभिप्सित नहीं है, प्रकाशक का गणित और लेखक की बढ़ती रॉयल्टी-राशि की दृष्टि से यह काम्य हो सकती है। तभी तो कुछ प्रकाशकों ने कुछ उपन्यासों को वृहदाकार रूप देने के लिए उन्हें खूब मोटे प्वाइंट्स के फॉन्ट में छापा है। मैंने इस समस्या पर अन्यत्र विस्तार से लिखा है। ऐसा नहीं है कि यह समस्या केवल हिंदी की ही या मेरे ही समीक्षक की है, मुझे खुशी हुई

* 63, केसर बाग, पटियाला।

की इस समस्या से इसी रूप में कुछ समय पहले अंग्रेजी के प्रसिद्ध पत्रकार, स्तंभकार खुशवंत सिंह अपने कॉलम में मुखातिब हुए और उन्होंने तो उपन्यास की पृष्ठ संख्या (अधिकतम 300) और मूल्य (लगभग 300 रु.) का भी निर्धारण करने का सुझाव दे डाला। ऐसा नहीं है कि वृहदाकार उपन्यास सफल ही नहीं हुए, प्रत्येक भाषा में हुए हैं किन्तु वह समय और था, थोड़ा पहले का, वर्तमाना का संघर्ष-संकुल समय नहीं। पिछले कुछ समय से होता यह आ रहा है कि उपन्यास का गंभीर से गंभीर और पढ़ाकू से पढ़ाकू व्यक्ति, पाठक-समीक्षक भी सब कुछ को पढ़ने का दंभ नहीं पाल सकता। पिछले कुछ समय के श्रेष्ठ को समेट कर निबटिए तो आगे इतना कुछ प्रकाशित हो कर आ जाता है कि छँटने-खँगालने का काम पूरा ही नहीं हो पाता। इसलिए पिछले लगभग दस बरस के औपन्यासिक कृतित्व पर बात करने से पहले मैं यह आत्म-स्वीकार कर लूँ कि अपने रैक पर मौजूद रहते हुए भी मैं कुछ उन महत्त्वपूर्ण लेखकों की कृतियों को नहीं पढ़ पाया जिन्हें किसी न किसी दृष्टि से पढ़ना जरूरी समझा जाना चाहिए थानिर्मल वर्मा-अंतिम अरण्य, असगर वजाहतकैसी आगि लगाई, कामतानाथकाल कथा खण्ड I तथा II मिथिलेश्वरयह अंत नहीं, भगवानदास मोरवालबाबुल तेरा देस में, आदि। कुछ ऐसे भी महा काव्य उपन्यास पढ़ें, जिन्हें न भी पढ़ता तो कोई हर्ज नहीं था पर इसलिए पढ़े कि उपन्यास का समीक्षक होने के नाते मुझे 'नयों' और 'बहुविज्ञापित' रचनाशीलता को भी पढ़ना चाहिए की उनमें क्या कुछ संभावनाएँ हैं, यथा शरद सिंह 'पिछले पन्ने की औरतें', कांति देव का 'महिमामयी' आदि। कहीं-कहीं तो स्थिति ऐसी बनती है कि खोदा पहाड़ तो निकले चुहिया, वह भी मरी हुई। लोकार्पण गोष्ठियों और प्रायोजित चर्चाओं में नारमी-गिरमी हस्तियाँ उपन्यास की सुचर्चा में अपनी सुटिप्पणी देते हैं तो एक ललक के साथ उपन्यास पढ़ने के लिए उठाते हैं, स्थिति वही मरी चुहिया वाली। एक सज्जन ने अपने उपन्यास को पढ़ने का इतना दबाव साल-डेढ़ साल बनाए रखा कि विवश हो पढ़ना शुरू किया, मैंने उन्हें बताया कि 'भाई, मैं इस उपन्यास के दस पृष्ठ भी नहीं पढ़ पाया, उपन्यास पठनीय नहीं है।' उत्तर में उन्होंने मेरे मुँह पर एक सूची पत्र द्वारा दे मारी जिसमें उस उपन्यास पर छत्तीस या उनतालीस समीक्षाएँ भूरि-भूरि प्रशंसा भाव से छपने का उल्लेख था। 'तू किस खेत की मूली है मेरे भाई, मेरी जेब में इतने आलोचक वृंद हैं' कुछ ऐसी ही ध्वनि पत्र से निकाली जा सकती थी। मेरे तोष का बिंदु यह था कि उपन्यास दो-एक वर्ष में ही अपनी मौत पर गया, 36/39, समीक्षाएँ भी उसे जीवनदान न दे सकीं। ऐसा भी हुआ कि बहुत से ढोल-ढमाकों के बीच हुए दुंदभि-नाद और अभिजनों द्वारा की गई 'जै-जै वंती' के बीच भी वृहद पाठक समुदाय ने उपन्यासों को व्यापक स्वीकृति नहीं दी, इस प्रकार के उदाहरणों में सबसे अच्छा उदाहरण विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास हैं 'नौकर की कमीज' (1979) तथा विशेषतः, 'खिलेगा तो देखोगे' (1996)। ऐसे भी उपन्यासों के उदाहरण हैं जिन्होंने अपने सीमिल कलेवर में कथा को विराटत्व दिया है,

किसी अंचल, क्षेत्र, विशेष का जीवन कथा के केन्द्र में रख अपनी कहन को इतनी विस्तृति दी है कि पूरे देश का राजनीतिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य कथात्मक संवेदना के धरातल पर अभिव्यक्ति पाता है। रवीन्द्र वर्मा तथा वल्लभ सिद्धार्थ के उपन्यास इसी कोटि के उदाहरण बनते हैं। ये सब उदाहरण मैंने इसलिए दिए कि कौन-सा उपन्यास किस रूप में चर्चा में आता है, यह स्थिति पाठक को स्पष्ट हो सके।

इस पीठिका के पश्चात् अब कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों पर सिलसिलेवार चर्चा की जा सकती है, कुछ का उल्लेख-भर कर आगे बढ़ा जा सकता है। सर्वप्रथम इस सदी के ही नहीं हिंदी उपन्यास की विकास-यात्रा में एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में स्मरणीय कृति कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान', जनवरी, 2000 ई में, प्रकाशित होते ही जिस रूप में चर्चा आया वह प्रकाशन और हिंदी उपन्यास के इतिहास में एक घटना है, जून, 2002 में दूसरा संस्करण, नवम्बर में तीसरा, फरवरी, 2001 में चौथा, जुलाई, 2001 में पंचम संस्करण और जून, 2002 में छठा संस्करणनिरंतर संस्करण जिस रूप में आते रहे (इसके बाद के संस्करण मेरी सूचना में नहीं हैं) वह इस उपन्यास की लोकप्रियता को रिकार्ड 'तोड़ प्रदर्शन है (जहाँ तक मेरी सूचना है यह सब बिना सरकारी खरीद से सम्भव हुआ)। कमलेश्वर के निधन पर डॉ. बच्चन सिंह ने एक जगह लिखा 'हिंदी का सलमान रश्दी कभी न लौटने के लिए चला गया। काश! मिडनाइट चिल्ड्रेन, "शेम के लेखक को 'कितने पाकिस्तान' पढ़ने को मिलता और वह पढ़ पाता तो उसे पता चलता कि देशी भाषाओं में 'मिडनाइट चिल्ड्रेन' से बेहतर लिखा जा सकता है।" सह सब प्रमाणित करता है कि यह उपन्यास हिंदी का एक सर्वाधिक बिक्री सर्वाधिक बिक्री वाले ('बेस्ट सेलर') अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास है। अपनी प्रस्तुति में यह उपन्यास हिंदी उपन्यास की विषयागत और कला गत प्रचलित रुढ़ियों, रूपबंध (फॉर्म) तथा संवेदना ('कंटेन्ट') को पूरी तरह नया रूप देते हुए अपना एक नया कला मानकमाडल-प्रस्तुत करता है। 'कितने पाकिस्तान' इतिहास और संस्कृति की गहरी समझ का एक विराट फलक प्रस्तुत करता हुआ मनुष्य के वर्तमान की चिंताओं को पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करता यह न केवल अपने को राष्ट्रीय संदर्भों तक सीमित रखता है अपितु पूरे जहान की राजनीतिक, सामाजिक ज्वलंत समस्याओं से जूझता सदी अर्थों में अपने पाठक को एक वैश्विक (ग्लोबल) परिदृश्य में बिठा देता है। उपन्यास की कथा का पसारा सुदूर अतीत से ले कर कारगिल प्रकरण (1999 उपन्यास रचना तक) है। इतने लम्बे समय और पूरे विश्व में फैली भौगोलिक सीमा को लेखक ने बड़ी नई, कुशल और पैनी कथा-युक्तियों से संभाला है। अदीबे आलिया, जिसे उपन्यास का नायक कहा जा सकता है, की अदालत में जब चाहे, दुनिया के किसी भी कोने से किसी भी जिंदा या मुर्दा व्यक्ति को उपस्थित किया जाता है। इस कथा-युक्ति से कथाकार अपने कथ्य और कथानक के सरपट दौड़ते घोड़ों की रास पूरे नियंत्रण में थामे रखता है जब चाहे उन्हें पूरी ढील दे देता है और जब चाहे उस ढील

की रास को खींच लेता है। कई-कई शताब्दियों के इतिहास-पुरुष उसकी अदालत में एक ही बिंदु पर मिल जाते हैं और उनके माध्यम से तत्कालीन समय की चिंताओं पर विमर्श किया जाता है इस रूप में कि इतिहास का वर्तमान में प्रक्षेपण हो सके। यह कथा-प्रयोग उपन्यास में फंतासी की एक अद्भुत दुनिया रचता है। फंतासी का यह जादुई यथार्थ कमलेश्वर की किस्सागोई की कला को और भी अधिक समृद्ध प्रदान करता है। किस्सागोई का यह गुण इतने विस्तृति और वैविध्य की कथा को कहीं भी विखरने नहीं देता। 'कितने पाकिस्तान' में उस लोक इतिहास, परंपरा का इस्तेमाल इस रूप में किया गया है कि वह हमारे वर्तमान के कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं को समझने की एक नई दिशा और चिंतन-पद्धति ('विजन') दे सके। अदीबे औलिया की आवाज इंसानियत की बेलौस : बेखौफ आवाज बन कर सारी दुनिया के इतिहास में उन विलगाववादी तत्त्वों को तलाशती हैं जो पाकिस्तान की निर्मिति में अपनी भूमिका निभाते रहे हैं और ये ही तत्व बार-बार न जाने कितने पाकिस्तानों के निर्माण की पृष्ठभूमि बना देते हैं। राष्ट्रीय परिवेश में ही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय क्षितिज पर यूगोस्लाविया, सर्बिया, अफगानिस्तान, अफगानिस्तान के तालिबान, पाकिस्तान की आई.एस.आई., पाकिस्तान के पास आई.एस.आई. को पैसा न देने के सामर्थ्य के अभाव में उसका नशीली दवाइयों, हथियारों के अवैध व्यापार पर कब्जा करने की मजबूरी, नाटो, सार्क की राजनीति, आदि की समस्याओं के मूल में जा कर उपन्यास विलगाववादी तत्त्वों की खोज मेसोपोटामिया, सुमेरी, अक्कादी और सिंधु घाटी आदि सभ्यताओं के अनेक मिथकों को अपने ढंग से खोलने का प्रयत्न और पूरी दुनिया के इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास को अनेक ज्ञात-अज्ञात ऐतिहासिक प्रमाणों, दस्तोवेजों, जनश्रुतियों, मिथक कथाओं तथा फंतासी की कल्पना और जादुई यथार्थ से खंगाला गया है। इस उपन्यास के वृहद कथा-फलक में दश और दुनिया को चिंतक की नजर से देखने के अनेक आयाम पूरे विस्तार में हैं। कमलेश्वर के कथाकार की औपन्यासिक युक्तियाँ और कथा-संवेदना इसे सूचनाओं को भंडारण मात्र नहीं बनने देतीं, उनका किस्सागो अपने कथा-पसारे को पूरी तरह कुशलता से साधता है। उपन्यास में दो बातें बहुत ही खटकने वाली हैं भारत की औपनिषदक संपदा के प्रति कथाकार की किंचित अवमाननापूर्ण दृष्टि और मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार की लड़ाई में दाराशिकोट प्रसंग को अनावश्यक विस्तार देना (इन दोनों अभावों को कमलेश्वर ने तहे-दिल से स्वीकारा था)। इन अत्यल्प अभावों के बावजूद कमलेश्वर का यह मास्टरपीस उपन्यास हैयद्यपि कुछ लोगों को इसके उपन्यास होने में भी शंका है। इस उपन्यास के पूर्व मेरा ऐसा मानना था कि कमलेश्वर कहानीकार बड़े हैं, उपन्यासकार नहीं, ढंग का उपन्यास उनके यहाँ है ही नहीं किंतु एक ही बेहतरीन कलाकारिता, 'मास्टर स्ट्रोक'में कमलेश्वर ने अपने उपन्यासकार को न केवल पूर्णमतया स्थापित कर दिखाया अपितु शीर्ष उपन्यासकार की ख्याति अर्जित की।

जिस प्रकार कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' में उपन्यास का ढाँचा और कथ्य का मिजाज पूरी तरह बदला हुआ है, उसी प्रकार काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी' (2002 ई.) उपन्यास की प्रचलित कथा-रूढ़ियों को तोड़ता हुआ अपनी विधागत निजता स्थापित करता है। इस कृति के विधागत चरित्र और स्वरूप के विषय में स्वयं लेखक उहापोह में है किंतु फिर भी इसे 'उपन्यास' ही कहना श्रेयस्कर समझता है, "यह कृति उपन्यास का उपन्यास और कथाएँ की कथाएँ। खासा चर्चित, विवादित और बदनाम। लेकिन बदनाम सिर्फ अभिजनों में, आमजनों में नहीं। आमजन और आम पाठक ही इस उपन्यास के जन्म की जमीन रहे।" वस्तुतः काशी के प्रसिद्ध अस्सी चौराहा के मुहल्ले को मंच बनाकर कथा के पात्र देश और दुनिया की राजनीति, वैश्वीकरण की आँधी, राजनीति के गलित चरित्र, बाबरी मस्जिद प्रकरण के पूर्व और बाद के सांप्रदायिक तनाव, कारसेवकों का धार्मिक उन्माद देश में लागू हुआ आपातकाल (इमरजेंसी), विश्वविद्यालय की छात्र-राजनीति, साहित्य की दुनिया की भौंडी कसरतें, पत्रकारिता, आरक्षण की राजनीति, मंडल-कमंडल के झगड़े, सुरसा की तरह बढ़ती महँगाई, नेताओं की चुनावी राजनीति, मुलायम सिंह की सपा, काशीराम की बसपा, भाजपासभी दलों की जातिगत राजनीति की गोटियाँ, व्यवस्था को खरीद डालने के हथकंडे, वाराणसी का पुरातन रूप से साइबर कैफे तक के युग में प्रवेश, खुले बाजार और उदार व्यवसास तथा मौद्रिक नीतियों के पर्दे के पीछे के रहस्य, विदेशी वस्तुओं से भारतीय बाजारों को पाटने की राजनीति, सब कुछ आयत्त करने के बाद भी मनुष्य की दुनिया से 'हँसी' का गायब होना और उसके लिए विभिन्न गोलियों'पिल्लस' और योगासनों की तलाश, आदि, आदि समस्याओं पर विचार करता उपन्यासकार अपनी लम्बी मारक-क्षमता ('किलिंग रेंज') का परिचय देता है। उपन्यास अपनी कहन और संपूर्ण प्रस्तुति में पूरी तरह 'लोक' में डूबा हुआ है। उसकी भाषा के भदेसपन और गलियों को ले कर भी बहुत नाक-भौं सिकोड़े गए हैं, माँ-बहन की गालियाँ तो यहाँ काशी के बीज शब्दों की तरह इस्तेमाल हैं किंतु उसके बिना काशी के अस्सी का ठाठ अपने पूरे बनारसी रंग में अवतरित न हो पाता। इसमें यथार्थ का अत्यंत खुरदरा और खौंटी रूप प्रस्तुत हुआ है जिसमें पात्रों के नामों तक में किंचित भी परिवर्तन नहीं हैं, स्वयं काशीनाथ सिंह भी यहाँ अपने नाम से ही अपने पूरे रंग-ढंग में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। उपन्यास इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह अपने समय की विद्रूपताओं, समस्याओं में गहरे पैठ सार्थक रूप में हस्तक्षेप करता है। लोक की बोली-बानी में लोक की कथा, जन-जन, देश के कोने-कोने की कथा उपन्यासकार अपनी दार्शनिक चिंतन के साथ प्रस्तुत कर एक नया कथा-मानक (मॉडल) सृजित कर हिंदी गद्य को अपने ही प्रकार की एक ताजगी प्रदान करता है।

"स्त्री की क्षमता को उसकी देह से ऊपर उठकर स्वीकार न करने वाले रूढ़, रुग्ण समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा?" तथा "जिस

दुर्घटना ने मेरे छात्र जीवन की दिशा बदल दी, वह थी ट्रेड यूनियनों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता, अन्तर्विरोध और उसमें अपराधी गिरोहों की ठेकेदारी।” चित्रा मुद्गल के उपन्यास ‘आवाँ’ (1999 ई.) से उद्धृत ये दोनों कथन इस उपन्यास की मूल संवेदना के नाभि बिंदु हैं, इन्हीं के इर्द-गिर्द कथा का बितान बुना है। उपन्यास में स्त्री-चेतना या स्त्री-विमर्श तो हैं। किन्तु वह कथा का मुख्य सरोकार नहीं है, मुख्य सरोकार ट्रेड यूनियनों की राजनीति, ‘आघाड़ी आंदोलन’, ‘श्रमजीवा’ जैसी संस्थाओं की अंदरूनी स्थितियों की अभिव्यक्ति देता एक नया अनुभव जगत है। यहाँ अनुभव निकट से देखा गया यथार्थ नहीं है अपितु उन स्थितियों के बीच स्वयं खड़े हो कर, उनके संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर सहभागी होते हुए उनकी जिंदगी का हिस्सा बन कर लिखी गयी कथा है। कथा-नायिका नमिता के चरित्र की दो धुरियाँ हैं उसका व्यक्तिगत संसार जिसमें कथा के साथ संजय कनौड़िया से परवान चढ़ता प्रेम और दूसरी ओर उसका बाह्य कर्मक्षेत्र जिसमें मजदूर आंदोलन, ‘आघाड़ी कार्यालय’, आभूषण-व्यापार जगत का अन्तर्बाह्य है। नमिता का चरित्र दुनियाँ में कथा-क्षेत्रों में संतरण करता हुआ वैश्वीकृत समाज की उपभोक्तावादी संस्कृति की परतें खोलता है। ‘आवाँ’ की नमिता हमें कई रूपों में ‘मुझे चाँद चाहिए’ (सुरेन्द्र वर्मा) वर्षा वशिष्ठ का स्मरण करा जाती है, ‘अभिजन’-‘एलीट’-वर्ग की संस्कृति में प्रवेश करना इन दोनों पात्रों की ही नियति है। चित्रा मुद्गल के इधर प्रकाशित दूसरे उपन्यास ‘गिलिगडु’ (2004) में वृद्धावस्था की बेचारगी और उसे जीने को अपने ही प्रकार का उल्लासपूर्ण रवैया कृति को पठनीय रूप प्रदान करता है।

अलका सरावगी ने अपने प्रथम उपन्यास ‘कलि-कथा: वाया बाइपास’ (1997) से ही विशेष ख्याति प्राप्त की। यह उपन्यास कोलकाता के मारवाड़ी समाज के माध्यम से 1862-1926 ई. तक के कालखंड की कथा प्रस्तुत करता है। इसी कड़ी में इनका दूसरा उपन्यास ‘शेष कादम्बरी’ (2001) आया है जिसमें कथा-परिवृश्य उसी मारवाड़ी समाज की एक और काल-कथा है जिसमें देवीदत्त मामा के जन्म वर्ष 1900 ई. से लेकर अटल बिहारी वाजपेयी की दिल्ली और कारगिल युद्ध के प्रसंग तक कथा का पसारा है। दोनों ही उपन्यासों की शैलिक संरचना में नई कथा-युक्तियाँ देकर उपन्यास विधा को एक ताजगी दी गयी है, वह लेखिका की बड़ी उपलब्धि है। उपन्यास की प्रस्तुति की ठसस शैली यहाँ एक उन्मुक्तता पाती है। बीच-बीच में आई टिप्पणियों से कथा में लेखिका की सीधी उपस्थिति और हस्तक्षेप, कविता की लय में बांग्ला पंक्तियों के अध्यायों के शीर्षक ‘जदि निर्वासने पाठामेई-कलिकाता’, ‘कोथाय आलो, कोथाय ओरे जालो’, “ओ गो आमार एई जीवनेर शेष परिपूर्णता” आदि कई नई कथा-युक्तियाँ उनके उपन्यासों की आकर्शक बनाती हैं। दोनों ही उपन्यास अपने समय और समाज की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियों का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। ‘कोई बात नहीं’ (2004) अलका सरावगी का तीसरा उपन्यास है।

गिरिराज किशोर के 'ढाई घर' (1991) तथा पहला गिरमिटिया (2001) इस समयावधि के चर्चित उपन्यास हैं। 'ढाई घर' में ब्रिटिश उपनिवेशवाद में पनपी जमींदारी प्रथा और उसके स्वामी जमींदारों, ताल्लकेदारों का जीवन और जीवन-पद्धति गहराई में चित्रित हुई है किंतु उनके उपन्यासकार को सर्वाधिक प्रसिद्धि 'पहला गिरामिटिया' से ही मिली जिसमें युग-पुरुष गाँधी जी के अफ्रीका-प्रवास (1894-1914 ई.) के जीवन पर आधारित है। अपने लगभग समकाल के इतिहास-पुरुष के जीवन को कथा के केन्द्र में रखकर उपन्यास लेखन का कार्य बहुत कठिन है किंतु गंभीर अध्ययन और शोध के आधार पर लिखे गए इस उपन्यास में गाँधी के जाने हुए रूप और किंचित कल्पना का आश्रय ले कर व्यक्तित्व के व्यक्तिगत को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य लेखक ने किया है, यह उनका अलक्षित पक्ष है जो विश्ववंध रूप की रक्षा करता हुआ भी उनके मानवीय पक्ष को उजागर करता है। अफ्रीका में रहते हुए गाँधी की संघर्ष-यात्रा की बहुत सूक्ष्मता और प्रामाणिकता में संवेदनात्मक प्रस्तुति 'पहला गिरामिटिया' को अविस्मरणीय उपन्यास बनाती है, रिचर्ड एडिनबरो की 'गाँधी' फिल्म के समान ही। गोविंद मिश्र के 'पाँच आँगनों वाला घर' (1995) 'फूल इमारतें और बंदर' (2000) तथा 'कोहरे में कैद रंग' भी चर्चित उपन्यास हैं। पाँच आँगनों वाला घर' मध्यवर्गीय परिवारों की संघर्ष कथा है जिनका युग के विकास के साथ अच्छा तालमेल नहीं बैठ पाता है। 'फूल, इमारतें और बंदर' उनके दफ्तरी जीवन के अनुभवों को कथात्मक रूप प्रदान करता है और 'कोहर में कैद रंग' में कथा को भारत की आजादी के समय से उठा कर आगे बढ़ाते हुए व्यक्तिगत प्रेम और विवाह के विश्लेषण में अनेक सवालों के जवाब खोजने के उपक्रम में ढाल दिया गया है।

प्रस्तुत काल खंड में रवीन्द्र वर्मा के उपन्यास अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, विशेष रूप से 'निन्यानवे' (1998), मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा (2004) तथा सद्यः प्रकाशित 'दस बरस का भँवर' (2007)। यँ इसी समय में उनका 'पत्थर ऊपर पानी' उपन्यास भी आया, जिसे मैं पढ़ नहीं पाया। किंतु इन तीनों उपन्यासों और कुछ अन्य लेखकों यथा अलका सरावगी आदि के संतुलित आकार वाले उपन्यासों के आधार पर बड़े विश्वास से कहा जा सकता है कि उपन्यास की कथा के कैनेवैस को विस्तृति और सघनता दे कर कृति को गंभीर प्रभावान्वित प्रदान की जा सकती है। रवीन्द्र वर्मा के ये तीनों ही उपन्यास प्रायः 200 से 206-7 पृष्ठों ('मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा' तो 185 पृ. ही) के सुपठनीय आकार में है किंतु इस त्रयी (ट्रिओलॉजी) से रवीन्द्र वर्मा अतीत के काल-खंड की राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों और उनमें सामान्य आदमी की संघर्ष कथा को अत्यंत सूक्ष्मता और प्रामाणिकता से उकेरते हैं। तीनों उपन्यासों की कथा-भूमि (लोकल) यद्यपि झाँसी है किंतु तीनों उपन्यासों में 1857 ई. के समय से लेकर बाबरी मस्जिद विध्वंस तक की घटनाएँ गहन अध्ययन, इतिहासकार (रवीन्द्र वर्मा इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं) की कालातीत दृष्टि और राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम का

ऐसा जीवंत चित्रण जो इतिहास, किंवदंतियों और विभिन्न स्रोतों के समुच्चय से जो अपनी निर्मिति पाता है, वह पूरे देश का यथार्थ है। 1857 के समय से लेकर अब तक भारतीय समाज औद्योगीकरण, आधुनिकता और उत्तर आधुनिक स्थितियों में किस प्रकार रूपांतरण पाता रहा, इसकी भी गहरी प्रतीति रवीन्द्र वर्मा के ये उपन्यास देते हैं। बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना (1992 ई.) से लेकर गुजरात नर-संहार की भयंकर त्रासदी (2002 ई.) के बीच के दस वर्षों के समय का गहन विश्लेषण देश की राजनीतिक, सामाजिक-धार्मिक स्थितियों का अंतरंगता में अवलोकन कर वैश्वीकरण और नव पूँजीवाद, उदारवाद तथा उपभोक्तावादी दृष्टि का निरंतर बढ़ते प्रभाव का आकलन करता 'दस बरस का भँवर' (2007) अपने समय का महत्वपूर्ण दस्तावेजी आख्यान बन जाता है।

अपने पहले उपन्यास 'इदन्नमम्' (1994 ई.) से साहित्य में अपनी धमाकेदार प्रविष्टि लेती अत्यधिक चर्चित लेखिका मैत्रेयी पुष्पा के इसके बाद 'चाक' (1997) 'झूला नट', 'अल्मा कबूतरी', 'विजन', 'अगन पाखी', 'बेतवा बहाती रही' आत्मकथात्मक उपन्यास 'कस्तुरी कुंडल बसै' तथा 2006 में 'त्रिया हठ' उपन्यास दनादन आते रहे किंतु आज भी उनकी कीर्ति 'इदन्नमम्' और 'चाक' उपन्यासों के कारण ही है। 'त्रिया हठ' तक आते-आते उनका अनुभव-भण्डार रीतने-सा लगता है। अपने कथा-कौशल से वे सभी उपन्यासों में एक पठनीयता बनाए रखती हैं, फिर भी सचेत पाठक को बार-बार यह अहसास होने लगता है कि घूम-फिर कर वही बुंदेलखण्ड, ब्रजक्षेत्र, ग्रामीण समाज का जीवन और वहाँ स्त्री के रूपांतरण की वही विद्रोहिणी छवि!! उनके उपन्यासकार पर बात उनके दो ध्वजपोत उपन्यासों 'इदन्नमम्' और विशेषतः 'चाक' के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। निस्संदेह उन्होंने ग्रामीण समाज की रूढ़ियों और पुरुष वर्चस्वादी समाज के प्रति विद्रोह करते दो अविस्मरणीय नारी पात्र मंदा और सारंग सिरजे हैं जो अपने प्रकार से अपना स्त्री-विमर्श रचते हैं। 'चाक', 'इदन्नमम्' से आगे की रचना है, इसमें ग्राम समाज के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष बहुत गहराई से विश्लेषित होते हैं। उपन्यास की नायिका सारंग अपनी फुफेरी बहन के कल्ल के अपराधी को पकड़वाने के लिए वह जिस तरह से कलावती, लौंगसिद्धी गुलकंदी के साथ लामबंद होती है वह तो सराहनीय है ही किंतु अपने पति रंजीत के खिलाफ भी खड़े होने का जो साहस वह जुटाती है, उसमें स्त्री की विद्रोहात्मक चेतना का चरम है। जाट-समाज की सारी पत-मर्यादा को धता बता कर प्रजापत (कुम्हार) मास्टर श्रीधर से उसका प्रेम और उसके माध्यम से स्त्री की यौनिक स्वतंत्रता का विमर्श उपन्यास को विशेष चर्चा में लाता है। इन पात्रों के कार्य-व्यवहार और सोच की विश्वसनीयता का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है। किंतु उसे 'जीवन यथार्थ' और 'कथा यथार्थ' के अंतर के अस्त्र से बचाया जा सकता है।

वर्तमान के हिंदी उपन्यास में ग्रामीण समाज के चित्रण की बात आई तो कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है : भीमसेन त्यागी का

‘जमीन’ (2004), मिथिलेश्वर का ‘माटी कहे कुम्हार से’ एस.आर. हरनोट का ‘हिडिम्ब’, प्रमोद कुमार तिवारी का सद्यःप्रकाशित ‘अरे चांडाल’ (2006) तथा रामधारी सिंह दिवाकर का ‘अकाल संध्या’ भीमसेन त्यागी की कथा-भूमि-लोकल कौरवी भाषी क्षेत्र-मेरठ-मुजफ्फर नगर तथा सहारनपुर का क्षेत्र है जिसमें लगभग 1940-45 के समय से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ समय बाद तक का ग्रामीण जीवन चित्रित है जिसमें अंग्रेजी शासन के समय गाँवों की दशा और बाद में जमींदारी प्रथा से उबरते गाँवों की तस्वीर मूर्त रूप पाती हैं गाँवों में धीरे-धीरे जिस प्रकार राजनीति का पसारा फैला, उसको भी लेखक ने चश्मदीद दृष्टि से चित्रण किया है। अपने क्षेत्र के जीवन और समाज के खंगालने की यही दृष्टि मिथिलेश्वर, भगवानदास मोरवाल, प्रेमकुमार मणि, एस.आर.हरनोट ने अपने उपन्यासों में दिखाई है। मिथिलेश्वर का ‘यह अंत नहीं’ (2000 ई.) में तथा ‘माटी कहे कुम्हार से’ (2006 ई.) बिहार के गाँव-समाज का चित्रण करने वाले उपन्यास हैं। जहाँ ‘यह अंत नहीं’ कोई विशेष आकर्षण नहीं जगा पाया, वहीं ‘माटी कहे कुम्हार से’ झाबुआ गाँव और उसके पात्रों के माध्यम से इस समाज का जीवंत चित्रण हुआ है। ‘हिडिम्ब’ में हरनोट धार्मिक अंधविश्वासों में जकड़े पहाड़ी-समाज का चित्रण सशक्त रूप में करते हैं। ‘अरे चांडाल’ अपने पृथुल आकार के कारण अभी कहीं-कहीं से ही पढ़ा जा सका है किंतु इसकी रेणु के गद्य की गमक इसे पूरा पढ़ने की बाध्यता देती है। राजनीति और प्रशासन-तंत्र में पिसता ग्रामीण सामान्य जन इसमें सर्वत्र दिखाई पड़ता है। रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यास ‘अकाल संध’ की पृष्ठभूमि में भी विहार का गाँव समाज है जो वर्तमान समय के परिवर्तनों को अपने प्रकार से जी रहा है। गाँवों में राजनीति और प्रशासन तंत्र ने व्यवस्था को जिस रूप में बदला है, वह तो उपन्यास में है ही किंतु इसका एक बहुत सशक्त पक्ष यह है कि परिवारों के जो जन दिल्ली, कोलकाता, मुंबई, जम्मू, पंजाब के विभिन्न शहरों में चले गए उनके अपने पीछे छूटे परिवार-जनों से सम्बंधों के समीकरण किस रूप में बदले हैं, उसका बड़ा सूक्ष्म, प्रामाणिक और मार्मिक चित्रण यहाँ हुआ है।

अपने समय को अपने-अपने ढंग से चीन्हते हुए दो उपन्यास यद्यपि सिंह का ‘अभी शेष’ है और रमेशचंद्र शाह का ‘सफेद परदे पर’ ध्यान आकर्षित करते हैं। अभी शेष है कि पृष्ठभूमि में विभाजन की त्रासदी और विस्थापितों के जीवन-संधर्ष के बीच पत्रकारिता और राजनीति के समीकरणों का अच्छा चित्रण हुआ है। रमेशचंद्र शाह का उपन्यास एक बौद्धिक के वृद्धावस्था के जीवन, पत्नी की मृत्यु के बाद के खालीपन और ऊब पर प्रकाश डालता हुआ, नई पीढ़ी-पुत्र और पुत्रवधू से सार्थक संगति बिठाने का एक विमर्श रचता है। कथानायक वृद्ध की समस्याएँ सार्वभौम रूप में व्याप्त हैं, इसी बिंदु पर उपन्यास बहुत पठनीय हो जाता है। असगर वजाहत का ‘सात आसमान’ (1996) तथा ‘कैसी आगि लगाई’ (2004) इसी कथा-दौर के उपन्यास हैं, ‘सात आसमान’ पर बात की जा सकती है जिनकी कथा लगभग चार सौ साल के

मुस्लिम समाज की विभिन्न पीढ़ियों के बदलावों, उनकी मानसिकता, चिति, को अंतरंगता में चित्रित किया गया है।

आजादी के बाद के भारत में सांप्रदायिकता की समस्या सदैव मुँहबाये खड़ी रही है जिसके चलते देश में जगह-जगह दंगे भड़कते रहे, उपद्रव होते रहे। उपन्यासकारों के लिए यह चुनौतीपूर्ण प्रिय विषय रहा है। इस कोटि में कुछ ऐसे उपन्यास भी आवश्यकता से अधिक चर्चा में रहे जिनमें औपन्यासिकता और कथात्मक संवेदना ज्यादा उच्चकोटि की नहीं थी, गीतांजलिश्री का 'हमारा शहर उस बरस' (1998) इसी प्रकार का उदाहरण है जिसमें सांप्रदायिकता की समस्या को एक बनेबनाए फार्मूले के तहत उठाया गया है। इसी समस्या पर भगवान सिंह का 'उन्माद' (1999) उपन्यास आया है जो सांप्रदायिकता के खिलाफ आवाज तो उठाता है किंतु एक ही वर्ग को लतियाता हुआ स्वयं अपनी दृष्टि में सांप्रदायिक हो जाता है। इसके विपरीत आकार में बहुत छोटा होते हुए भी प्रियंवद का 'वे वहां कैद है' (1994) उपन्यास सांप्रदायिकता की समस्या का अधिक सुलझा हुआ और गंभीर विमर्श प्रस्तुत कर सका है। बाबरी मस्जिद प्रकरण को कई उपन्यास कथा के केन्द्र में रखते हैं, इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण मो. आरिफ का 'उपयात्रा' (2006) है जिसमें बाबरी मस्जिद विध्वंस के पश्चात् अल्पसंख्यक समुदाय की सोच में आए परिवर्तन का तार्किक विश्लेषण हुआ है। कश्मीर में व्याप्त राजनीतिक और सांप्रदायिक समस्या का चित्रण करते उपन्यास भी आए किंतु वे बहुत सतही रूप में वहाँ के जीवन का चित्रण-भर कर पाए। इसी दौर में प्रभा खेतान का 'पीली आँधी' (1996), मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' (1996), राजी सेठ का 'निष्कवच' (1997), जया जादवानी का 'तत्त्वमसि' (2000) तथा सिम्पी हर्षिता का 'रंगशाला' (2003) उपन्यास आए जिनमें किसी न किसी रूप में स्त्री चेतना या कहें नारी-विमर्श का कोई न कोई नया कोण उद्घाटित हुआ है। 'पीली आँधी में' राजस्थान के मारवाड़ी समाज की व्यापार के सिलसिले में दूर-दूर की संघर्ष-यात्राएँ, कलकत्ता की गदिद्यों में आकर बस जाना, कई-कई पीढ़ियों की समृद्धि-यात्रा और उन सबके बीच एक टीस छोड़ने वाली प्रेम-कथा उपन्यास को आकर्षक रूप प्रदान करती है। 'कठगुलाब' अपनी प्रखर स्त्रीवादी सोच और उसके सुविस्तृत विमर्श के लिए देर तक याद रहने वाला उपन्यास है। इसी स्त्री विमर्श ने जहाँ उसे इस दृष्टि से स्मरणीय बनाया, वहीं इसकी अत्यधिक मुखरता ने उपन्यास की कथा-संवेदना को क्षत भी किया है। 'निष्कवच' उत्तर आधुनिक समय में 'दो पीढ़ियों' के अंतराल और मूल्य-संक्रमण की स्थिति को एक दार्शनिक विश्लेषण में प्रस्तुत करने वाला सघन बुनावट का उपन्यास है। 'तत्त्वमसि' तथा 'रंगशाला' दोनों ही प्रेम और विवाह की स्थितियों पर अपनी-अपनी तरह से एक विमर्श रचते हैं। जया जादवानी का उपन्यास अपनी मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिक अंदाज और काव्यात्मक बुनावट के

लिए स्मरणीय बन पड़ा है तो सिम्मी हर्षिता का उपन्यास प्रेम में स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता की प्रतीति कराता है।

मुझे यह अहसास है कि कई चर्चित और नए उपन्यास छूटे हैं, लेखर के आकार और मेरी अपनी सीमा!! पसंदगी-नापसंदगी के आधार अपने-अपने ही होते हैं। वीरेन्द्र जैन का 'डूब', हरिसुमन बिष्ट का ताजा उपन्यास, कृष्णा सोबती के इधर के दो उपन्यास, ज्ञानप्रकाश विवेक 'दिल्ली दरवाजा', नासिरा शर्मा के उपन्यास, मनोहरश्याम जोशी का 'हमजाद', आदि विदेश प्रवास पर रवीन्द्र कालिया का ए.बी.सी., उषा प्रियंवदा का 'अंतर्वशी', सुषम बेदी का उपन्यास 'गाथा अमरबेल की' आदि। कहीं तो इस लेख को विराम देना ही है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

पुस्तकें

कबीर रहीम होरी जन-जन के दोहाकार, संपादक: डॉ. श्याम सिंह शशि, पं. सुरेश नीरव; प्रकाशक:जी आर एस पब्लिकेशंस, सी-245, सैक्टर 63, नोएडा; प्रथम संस्करण: 2009; पृष्ठ: 170; मूल्य: 175 रुपये।

आरती वन्दन, संपादक: सोहन 'राही'; प्रकाशक: प्रभात बुक सेन्टर, मीरारोड, मुंबई-401107(भारत); प्रथम संस्करण: 2009; पृष्ठ: 96।

पत्रिकाएँ

नारी संवाद, विचारशील एवं संघर्षशील महिलाओं की पत्रिका; पूर्णांक: 71, वर्ष: 14, अंक: 1, जून - 2009; संपादक: डॉ. रेणु दिवान; प्रकाशक: 'नारी ट्रस्ट', सी-3, कलिंगा अपार्टमेंट, थड़पखना, राँची-834001 (झारखण्ड); पृष्ठ: 36; मूल्य: 20 रुपये।

काव्य की तात्त्विकता से साक्षात् करते कवि श्री नरेश मेहता

□ कैलाशचन्द्र पन्त

साहित्य में यह मान्यता है कि किसी रचनाकार के व्यक्तित्व को समझना हो तो उसके रचना संसार में गहरी पैठ करनी होती है। सैद्धांतिक रूप से यह बात सच भी है। लेकिन वर्तमान साहित्यिक परिवेश में यह संभावना कम अवश्य होती जा रही है। कवि और उसकी कविता, रचनाकार और उसकी रचना में संगति नहीं बैठती। सामाजिक विद्रूपता और विषमता के लिए हाहाकार मचाती कविताओं के रचनाकार विसंगतियों का जीवन जीते दिखाई दे जाते हैं। ऐसे ही लेखकों और कवियों ने शब्द की सत्ता को दुर्बल बनाया है। हम सवाल करते हैं कि आज सामाजिक जीवन में साहित्य हाशिये में क्यों चला गया? साहित्य का वह सामर्थ्य कहां दृष्टिगोचर होता है, जो कल तक समाज को जागृत ही नहीं कर रहा था, उसे सरफरोशी की तमन्ना लेकर कुछ कर गुजरने को प्रेरित भी करता था। इन सवालों से टकराते हुए हमें शब्द की लुप्त होती सत्ता चिंतित करती है। जब हम श्री नरेश मेहता के रचना संसार में प्रवेश करते हैं तो वह भीड़ से अलग, शब्द की सत्ता की पुनर्वापसी के संघर्ष में अपनी सांसों को होम करते नजर आते हैं। तभी तो 14 अगस्त, 1959 को दिल्ली छोड़कर अनजान शहर प्रयाग में बसने चले गये थे। उस दिन प्लेटफार्म पर विदा देते हुए श्रीकान्त वर्मा और नेमीचन्द्र जैन ने कहा था “बाईं गोइंग टू इलाहाबाद यू आर डूइंग स्यूसाइड।” नरेश जी ने उत्तर दिया था “ओनली ह्यूमन बीइंग कैन डू स्यूसाइड।” (14 अगस्त, 82 की डायरी में दर्ज)। उसी पन्ने पर यह भी दर्ज है “अपने लेखन के लिए अगर स्यूसाइड भी करना पड़ता तो मैं करता।” ये शब्द लेखन के प्रति गहरे समर्पण का परिचय देते हैं। और, सचमुच नरेश जी लेखक बनने के लिए ही पैदा हुए थे। समकालीनता से अलग राह बनाने के लिए जो मार्ग उन्होंने चुना उसकी मूल प्रतिज्ञा है

* लेखक मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल में मंत्री संचालक तथा द्वैमासिक ‘अक्षरा’ के प्रधान संपादक हैं।

ओ मेरे दाता!
दी है फकीरी तो देना संकल्प भी।

उनके इस संकल्प को दृढ़ से दृढ़तर बनाने में निसंदेह उनकी पत्नी श्रीमती महिमा मेहता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। श्री नरेश मेहता के व्यक्तित्व या कहें कि कृतित्व को समझने के लिए उनकी कविताओं का पाठ और पुनर्पाठ ही सबसे ज्यादा सहायक होगा। व्यक्ति नरेश मेहता किसी भी अपरिचित को भ्रम में डाल सकते थे। कभी वे बहुत सहज और विनोदी मुद्रा में होते तो कभी ऐसी असंगता धारण कर लेते कि उन्हें अहंकारी समझ लेने का भ्रम हो जाता था। नरेश जी में अहंकार तो था ही नहीं, अपने स्वत्व के प्रति, स्वाभिमान के प्रति वे जरूर सजग रहते थे। उसमें समझौते की संभावना नदारत रहती थी। परन्तु वे उन परिस्थितियों का विश्लेषण कर लेते थे जिनके रहते कोई विशेष अप्रिय प्रसंग घटित हो जाए। प्रतिक्रिया देने की जगह मौन धारण कर लेना ही उनका प्रतिकार होता था। नरेश मेहता की कविताएं उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को सार्थक करती हैं। उनकी कविताएं प्रथम परिचय होते ही लीक से हटकर दिखाई देती हैं। उसी तरह उनका व्यक्तित्व भी आम नहीं था, उससे हटकर था। आलोचक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने उनका सही मूल्यांकन करते हुए लिखा है—“नरेश मेहता जीवन और कविता में दो नहीं लगते। इस नकली जमाने में उनका ‘एक’ होना ही जैसे कई लोगों के लिए विस्मय और अविश्वास का कारण था। अपने ही रचे पात्रों की तरह नरेश जी पीड़ाएँ अपने में ढालकर कविता में रस उलीचते थे। अनासक्ति, आत्मीयता और उच्चाशय, जो उनकी रचनाओं में हैं, वही उनका जीवन भी था। इस युग में शब्द और कर्म किसी व्यक्ति में गुथे मिल जाएं तो समझ लीजिए, हमने अलभ्य पा लिया।” मैंने पूर्व में ही इस बात का संकेत कर दिया था कि शब्द की सत्ता की पुनर्स्थापना के लिए अपने प्रति ईमानदार होने का संकट उठाना पड़ता है। नरेश जी में वह ईमानदारी प्रारंभ से ही मौजूद रही और जब जब भी, जहां भी उन्हें छद्म या पाखण्ड दिखाई दिया, अपना रास्ता बदल दिया।

कवि नरेश मेहता का यह असाधारण तेजस है, जो उन्हें अपांक्तेय बनाता है। तेलुगू के प्रसिद्ध कवि शेषेन्द्र शर्मा ने ‘उत्सवा’ की भूमिका में लिखा—“नरेश जी के काव्य का वैशिष्ट्य इस तथ्य में निहित है कि वह पाठक को समर्पण की कला सिखाता है।” इससे समझा जा सकता है कि नरेश मेहता स्वयं साहित्य के प्रति कितने समर्पित थे और अपने लेखन के प्रति किस विश्वास-भाव को अपने भीतर संजोये थे। ऐसे लेखक के ही व्यक्तित्व का साक्षात्कार उसकी रचनाओं के माध्यम से हम संभव कर पाते हैं। पर इसमें भी एक शर्त है—उनकी रचनाओं का पाठ करते हुए पाठकों में भी एक समर्पण होरचना को आत्मसात करने का, पूरी तल्लीनता से उसमें खो जाने का। यह संतोष का विषय है कि नरेश मेहता के महाप्रस्थान के बाद उनकी कविताओं से पाठकों का तादात्म्य बढ़ता जा रहा है।

नरेश जी के व्यक्तित्व के कारक तत्वों को हम उनकी कविताओं से आसानी से ढूँढ सकते हैं। वे साहित्य को मनुष्य के व्यापक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे। इलाहाबाद संग्रहालय में अपने अंतिम व्याख्यान में नरेश जी की साहित्यिक मान्यताओं का स्पष्ट चित्र मिल जाता है। इन व्याख्यानों को 'प्रदक्षिणा', अपने समय की' पुस्तक में संकलित किया गया है। काशी के साहित्यिक वातावरण की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था "प्रगतिशील आंदोलन का यह सदा दुर्भाग्य रहा कि उन्हें साहित्य से ज्यादा चिन्ता वामपंथी राजनीति की रही। इसीलिए आज की तरह तब भी साहित्य को राजनीति का अनुगामी बनाने का प्रयास रहता... एक वायवीय वर्गवाद का चिन्तन और चिन्ता ही जैसे एममात्र विषय रह गया है। कम्युनिस्ट पार्टी के लिए तो यह मुख्य चिन्ता हो सकती थी परन्तु क्या साहित्य के लिये इतना पर्याप्त है? साहित्य मनुष्य के व्यापक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। क्या यथार्थ को देखने की एकमात्र दृष्टि राजनीति ही है?

साहित्य पर राजनीति का इस कदर हावी होते जाना नरेश जी जैसे दृष्टि सम्पन्न रचनाकार को कैसे रास आता? वे तो सर्वथा भिन्न भावभूमि पर खड़े थे, जहां से सनातन सत्य से साक्षात्कार करने का अवसर सुलभ होता है। अतः कम्युनिस्ट पार्टी को अलविदा कहते हुए नरेश मेहता ने लिखा

आग्रह करो मत

इस तुम्हारे द्वार को ही मान लें भगवान

यह जन यहां से अलग होता है

पथ यहां से अलग होता है।

इस पथ को उन दिनों छोड़ देने का अर्थ कुछ सामान्य नहीं था। फतवेबाजी में और राजनीतिक जोड़-तोड़ में पारंगत एक समूह विशेष स्वयंभू साहित्यिक मठाधीश बन बैठा था। सामाजिक अस्पृश्यता के विरुद्ध ढोल बजानेवाला यह समूह साहित्यिक अस्पृश्यता का धिनौना खेल भी खेलता था। विश्वविद्यालयों, शिक्षा संस्थानों और प्रचार माध्यमों में इस समूहबद्धता ने (शैलेश मटियानी इसे गिरोह बन्दी कहते रहे) परोक्ष नियंत्रण हासिल कर लिया था। ऐसी स्थिति में कलावादी कहलाए जाने का खतरा उठाकर भी कवि नरेश मेहता ने लिखा

मनुष्य होने का अर्थ ही है

एक उत्सव

एक रास का आरात्रिक संपन्न होना

मनुष्य का रासपुरुष ही

देश और काल में यात्रा कर रहा है।

समझा जा सकता है कि कवि किस सत्य से साक्षात्कार करने के लिए एक अलग रास्ते का चुनाव करता है। वह राह भी समर्पण की है

मैं अपनी आयु की वानस्पतिक गंध
फूल को सौंप देना चाहता हूँ।
ताकि वह
मेरे पुण्यों की मयूरपंखी उत्सवता बन
सूर्य के धूप-मुकुट की
जयकार बने!

जिस वैश्विक चेतना की अनुभूति कवि को हो रही है उसकी आसाधारणता को तभी समझा जा सकता है जब हम उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सकें। इस सम्बन्ध की तीव्रता का आभास तब और अधिक गहरा हो जाता है जब इन पंक्तियों से साक्षात्कार होता है

अपने में से फूल को जन्म देना
कितना उदात्त होता है
यह केवल वृक्ष जानता है
और फल
वह तो जन्म जन्मान्तरों के पुण्यों का फल है।

सामान्य पाठक की पहली प्रतिक्रिया संभवतः यही होगी कि कवि दर्शन की भावभूमि पर पहुँच गया है, लेकिन नहीं, यह उस भावातीतता की स्थिति है जिस पर योगी योग-बल से पहुँचते हैं। पर वे वहाँ पहुँचने के बाद लौटकर नहीं आते। नरेश मेहता उन सारी अनुभूतियों के साथ लौटते ही नहीं, शब्द भी देते हैं। शेषेन्द्र शर्मा का कथन और कविता की समझ अपनी समग्रता हमें प्रभावित करती है। वे नरेश जी के कवि व्यक्तित्व को तभी पहचान गये थे जब वामपंथी गिरोह उनकी कविताओं को वैष्णव कविता कहकर उसका मजाक उड़ा रहा था।

इस प्रसंग में नरेश जी की वैष्णवता को समझ लेना प्रासंगिक होगा। वैष्णवता का आरोप लगाने वाले वस्तुतः उनके पौराणिक विम्बों, भारतीय आख्यानों और उनके अनुरूप शब्दावली प्रयुक्त करने के कारण चौंक गये। उन्हें लगा कि साहित्य में भारतीयता का ध्वजवाहक कैसे घुसपैठ कर रहा है। लेकिन सतही ढंग से साहित्य में रुचि रखने वाले या साहित्य के माध्यम से राजनीतिक मेनिफेस्टो को प्रस्तुत करने वाले आलोचकों को उनकी वैष्णवता समझ में नहीं आ सकती थी। वे उसे समझना भी नहीं चाहते थे। नरेश जी के विचार उनकी जड़ों पर प्रहार करने में सक्षम थे। नरेश जी ने लिखा “भारतीय समाज ने तो राजनीति में हमेशा संत चित्तवृत्ति के व्यक्ति का किसी कारणवश यदि अनुगमन न किया होगा तो भी उसके महत्त्व को स्वीकारा ही होगा। गांधी इसी के उदाहरण हैं। भूगोल और इतिहास के इतने विशाल फलक पर हमें अपनी सामाजिक, धार्मिक और सर्जनात्मक प्रकृति और संभावना की यथासंभव

पड़ताल करनी चाहिए तभी हम अपने स्वत्व और अस्मिता के अक्षांशदेशांतर की सही स्थिति को जान सकेंगे। और तभी हम अपनी आधुनिकता की संभावना को शायद संभावित कर सकें।

इसी संभावना की तलाश में नरेश जी की स्पष्ट धारणा है कि भारतीयता की भूमि से कटकर हम अपना वर्तमान ही नहीं, भविष्य भी विनष्ट करेंगे। जिन लोगों को उनकी भारतीय अवधारणा पर भ्रम है उन्हें नरेश जी के इन शब्दों का अर्थ आत्मसात कर लेना चाहिए—“भारतीयता प्रचलित अर्थ वाले धर्म से लेकर राजनीति के बिना तो रह सकती है परन्तु रामायण, महाभारत या रामचरित मानस के बिना नहीं। इसका अर्थ किसी का तिरस्कार नहीं बल्कि स्वयं अपना अंगीकार है। अपनी जड़ों पर खड़े होकर तो हिम-आलय का झंझावात झेला जा सकता है परन्तु जड़हीन होकर हम न केवल अपनी वानस्पतिकता से वंचित हो जाते हैं परन्तु सब कुछ खोकर वापस मिट्टी में विलीन हो जाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में नरेश जी की वैष्णवता को इन पंक्तियों से समझा जा सकता है

माथे पर गोपीचन्दन का तिलक
और देह पर
सरसों के पीले दानों की बूटियों वाली
यह कौन कृष्णा वैष्णव चिड़िया है
जो मकई के भुइयों
और माधवी लता पर
प्रतिदिन धूम-सी आकर बैठ जाती है।

नरेश जी की तो मान्यता ही थी कि जिसे कवि कहा जाता है वह तो मात्र प्रस्तोता होता है, वह इसलिए कि कवि नहीं, उसका मनीषी व्यक्तित्व या चैत्य-पुरुष उस काव्य-साक्षात का अनुभवकर्ता या दृष्टा था। कवि को ऋषितुल्य मानने की यह दृष्टि उसे ही व्याप सकती थी जो उस ऊँचाई का स्पर्श करने का सामर्थ्य रखता हो। इसीलिए मैं उन्हें भावातीतता का कवि मानता रहा हूँ जिन्हें अपनी जड़ों से, परंपरा से गहरा लगाव था और जिनमें एक व्यापक और विराट ब्रह्माण्डीय-चेतना भी थी। वे ‘कास्मॉस’ पर लिखने की इच्छा मन में रखे हुए ही ब्रह्माण्डीय चेतना में विलीन हो गये। यह संयोग नहीं था कि मृत्यु से पूर्व कागज पर जिस कविता को लिखना चाह रहे थे उस पर ‘कृष्णा’ लिखा था।

मैंने जान-बूझकर वे उद्धरण ही प्रस्तुत किए हैं, जो कवि के व्यक्तित्व की बुनावट का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। उनकी इस काव्यधारा ने जहाँ पाठकों को चमकृत किया था, वहीं कुछ लोगों ने वैष्णव कविता की संज्ञा देकर उनकी उपेक्षा करने की कोशिश की। जाहिर कि उपेक्षा करने वाली जमात आयातित संस्कारों को सहेजे थी

और भारतीयता के प्रति उसके मन में विद्रोह का भाव था। उनकी कविताओं में यथार्थ-बोध भी विपुलता से व्याप्त है। आज के आदमी के दोहरे, खंडित व्यक्तित्व को किस सूक्ष्मता से नरेश जी अंकन कर रहे हैं

इधर यह
कई दिनों से मनुष्य नहीं था
तभी तो
जब भी मिला
जहाँ भी मिला
असुविधा के साथ ही कुछ-कुछ मिला
कुछ-कुछ नहीं मिला
जब भी दिखा
जहाँ भी दिखा
गर्म जेब को छुपाते, आँखें चुराते कुछ-कुछ दिखा
कुछ-कुछ नहीं दिखा
आखिरकार एक दिन पूछ ही बैठा,
क्यों भाई कितने दिनों से मनुष्य नहीं बन सके हो?

इस यथार्थ बोध के साथ ही एक विराटत्व जो नरेश जी की विशिष्ट पहचान है, उसे 'माँ' कविता में देख सकेंगे

मैं नहीं जानता
क्योंकि नहीं देखा है कभी
पर, जो भी
जहाँ भी लीपता होता है
गोबर के घर आँगन
जो भी
जहाँ भी प्रतिदिन दुआरे बनाता होता है
आटे कुंकुम से अलपना,
जो भी
जहाँ लोहे की कढ़ाई में छोकता होता है
मैथी की भाजी
जो भी
जहाँ भी चिंताभरी आँखें लिए निहारता होता है
दूर तक का पथ
वही
हाँ, वही है माँ!!

इस कवि व्यक्तित्व की विराटता के दर्शन हेतु और क्या साक्ष्य चाहिए। यदि तत्त्व-चिंतन से मन की यह विराटता हासिल की जा सकती है और उसे काव्य में अभिव्यक्ति देने की क्षमता अर्जित हो जाती है तो इस या उस कारण से कवि को नकारने वालों की कविता की समझ पर सवालिया निशान खड़े करने होंगे। नरेश जी की आध्यात्मिकता, वैष्णवता का अक्षांश-देशांश समझने के लिए उनकी एक कविता का उल्लेख करना चाहूँगा

चंदन की मुठिया से लेकर गोबर के कंडों तक
यह जीवन की कैसी गांधर्व-वीणा बज रही है?
हमारे लिए मनुष्य-मात्र
हमारे लिए गंध मात्र
हमारे लिए रंग मात्र
वेद पाठ है
यह ध्वनि है
उत्सव गान है।
कभी अपनी वैयक्तिकता को
इतनी विशाल स्वर लिपि में बजने दो बंधु!
और देखो कि इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए
कैसा अनुष्ठान सम्पन्न हो रहा है।

अपने एक विचारपूर्ण निबंध 'अथातो काव्य जिज्ञासा' में आधुनिकता के संकट पर जो कुछ उन्होंने लिखा वह सम्पूर्ण मानव जाति को एक चेतावनी है—“किसी भी युग में मनुष्य इतना अकेला, असुरक्षित और भयाक्रांत नहीं था जितना कि आज के चकाचौंध वाले प्रकाश में खड़ा मनुष्य अपने को नितान्त अँधेरे में महसूस करता है। आधुनिकता तथा अंतर्राष्ट्रीयता के नाम पर केवल पश्चिमीकरण, आर्थिक शोषण का नया उपनिवेशवाद, मध्यकालीन तानाशाहों से अभी मुक्ति मिली ही नहीं कि समूह की तानाशाही आदि अनेक समस्याएँ उसी आधारभूत गलत निर्णय से प्रसूत हुई हैं, जिसमें मनुष्य ने संघर्ष को अपनी मूल शक्ति स्वीकारा।...असुरत्व से सुरत्व की ओर जाने का नाम ही वास्तविक काव्यात्मकता है। उपनिषद इसे ही 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहते हैं। यह वैदिक दिव्य काव्यात्मकता किसी चमत्कारी दुरूह साधना का नाम ही है। एक आवाहन भाव जगने देना है। हमारे शब्द ही उस सत्य, प्रकाश और अमरत्व को ऋत रूप में प्रस्थापित करेंगे।”

क्या इन शब्दों में साधना, समर्पण और उसकी सत्ता स्थापित करने का ऋषि स्वर नहीं गूँज रहा है?

गांधीवाद की पूर्व पीठिका का निर्माण किया था प्रो. पूरन सिंह ने

□ डॉ. महीप सिंह*

हिन्दी संसार प्रो. पूरन सिंह को 'अध्यापक पूर्ण सिंह' के रूप में जानता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है

'सरस्वती' के पुराने पाठकों में से बहुतों को अध्यापक पूर्ण सिंह के लेखों का स्मरण होगा। उनके तीन-चार निबन्ध ही उक्त पत्रिका में निकले। उनमें विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से मिश्रित करने वाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्य में एक नई चीज थी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति 'लाक्षणिकता' में देखी जाती है। भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी। (पृष्ठ 500)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में अध्यापक पूर्ण सिंह के लिखे तीन निबन्धों का उल्लेख किया है 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' और 'आचरण की सभ्यता'। इनके अतिरिक्त कन्यादान, पवित्रता और अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमेन। इनमें से अधिकांश निबन्ध सन् 1908 से 1912 के दौरान प्रकाशित हुए। बीसवीं शती के इन प्रारंभिक वर्षों में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में साहित्य की नवीन विधाएं पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा और प्रभाव से विकसित हो रही थीं। 'निबन्ध' भी एक ऐसी ही विधा थी। हिन्दी में निबन्ध शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'एसे' (Essay) शब्द के समानार्थी के रूप में प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबंधकार जानसन ने निबंध की परिभाषा करते हुए कहा था, "मुक्तमन की मौज, अनियमित, अपरिपक्व रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित वृत्ति।" निबन्ध के लक्षणों में स्वच्छन्दता, सरलता, आडम्बरहीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है। परन्तु यह बात भी सभी साहित्य पारखी जानते हैं कि निबंध लेखक की अनियमितता में भी एक नियम होता है और हर लेखक अपनी राह स्वयं बनाता है।

* एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

जब निबंध साहित्य की परिभाषाएं बन रही थीं, जब अभी हिन्दी में निबन्ध का कोई स्वरूप निर्मित नहीं हुआ था, अध्यापक पूर्ण सिंह नितान्त अपनी शैली, अपना विषय और अपना रंग लेकर आये और उन्होंने अपने गिने-चुने निबंधों से सभी को चमत्कृत कर दिया। पूर्ण सिंह की चर्चा एक श्रेष्ठ अभिव्यंजक निबंधकार के रूप में ही की जाती है। वे द्विवेदी काल के लेखक थे। परन्तु द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता या नीरस निर्वैयक्तिकता इनकी रचनाओं में नहीं है। भावना और कल्पना का ऐसा संयोग उनकी रचनाओं में है, जो छायावाद की पूर्व-भूमिका है, और विचारों की ऐसी गतिशीलता और गहनता है जो आगे चलकर गांधीवाद और प्रगतिवाद में विकसित होती है। यूरोप की मशीनी सभ्यता की प्रतिक्रिया टालस्टाय, रस्किन और बाद में गांधी जी की रचनाओं में दिखायी दी थी, वह पूर्ण सिंह के निबंधों में बड़ी सघनता से प्राप्त है। यह अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि गांधी जी से पहले पूर्ण सिंह ने चरखा और हस्त-उद्योग का मशीनी उत्पादन से होती हुई टकराहट को अनुभव किया और अपनी लेखनी द्वारा उसे सशक्त ढंग से स्थापित किया। पूंजीवाद के उभरते युग में उन्होंने श्रम और श्रमिक के महत्त्व को रेखांकित किया। पूंजीवादी व्यवस्था में हर वस्तु पैसे से लाई जाती है। परन्तु पूर्ण सिंह उस आध्यात्मिक समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें मशीन का नहीं, मनुष्य का मूल्य है। *मजदूरी और प्रेम* में वे कहते हैं

“आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाफ की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चांदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य पूजा ही सच्ची ईश्वर पूजा है...मजदूरी और मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम है। सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुंह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते।”

अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्धों में व्यक्त विचार अपने समय से बहुत आगे के विचार थे। रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़े हुए उन विचारों को समझना और आत्मसात करना उस समय बहुत कठिन था, आज भी सरल नहीं है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही साधु-संन्यासियों का जीवन श्रमहीन और परजीवी बनकर रहा है। ऐसे साधु-संन्यासी, संत और फकीर दूसरों की कमाई पर जी कर अपने लिए सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएं और सम्मान अर्जित करते हैं। पूर्ण सिंह ने ऐसे परजीवियों

के लिए कहा “बिना मजदूरी किये फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीर भी अपने आसन से गिर जाता है, बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं। परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का ... निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना मानो सोते-सोते खरटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।”

हमारे देश में मेहनत, मजदूरी, श्रम, सेवा करने वाले लोगों को आम तौर पर कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। श्रमजीवी व्यक्ति की इस विडम्बना पर अपना गहरा सरोकार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था

“जब हमारे यहां के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियां कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहां शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा, किंवा, कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है हमारे धर्म, कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है कि जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।”

इस लेख में पूर्ण सिंह ने गुरु नानक के जीवन से सम्बन्धित भाई लाली और मलिक भागों के प्रसंग का उल्लेख किया है। श्रमिक भाई लालो की सूखी रोटी से दूध और धनवान मलिक भागों के पकवान से खून निकलने की जनश्रुति को उन्होंने व्याख्या करते हुए लिख था

“भागो की हलवा पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लाली की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लाली की रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है, यही धारा शिव जी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उंगलियों से निकलती है।”

पूर्ण सिंह के भावात्मक कहे जाने वाले निबन्धों में गहन प्रगतिशील दृष्टि प्रतिबिंबित होती रही। उद्योगों के विशाल पैमाने पर किये जाने वाले मशीनीकरण के उत्तर में गांधी जी ने कुटीर उद्योगों पर बल दिया था। भारत जैसे बहुसंख्यक किन्तु निर्धन देश के लिए किस प्रकार की अर्थव्यवस्था उपयोगी हो सकती है, इस ओर पूर्ण सिंह ने भारतीय राजनीति के हृश्य पटल पर गांधी जी के आगमन से पूर्व (सन् 1912) में विचार व्यक्त किये थे

“एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गयी थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए मजदूरों को सुख देने के लिए, परन्तु वह काली-काली मशीनें ही काली बनकर, उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं...भारत जैसे दरिद्र देश में मनुष्यों के हाथों को मजदूरों के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा।”
(मजदूरी और प्रेम)

पूर्ण सिंह ने अपने निबन्धों के माध्यम से हिन्दी को एक नयी भाषा और शैली दी। बाद में लिखे जाने वाले अधिकांश हिन्दी निबन्ध दुरुह और दुर्बोध भाषा का सहारा लेकर लेखक की विद्वता का रोब डालने में तो अवश्य सफल हुए किन्तु कम निबंधकारों के निबन्ध पाठ्य पुस्तकों की सीमा से बाहर निकलकर हिन्दी पाठक के साथ अपना जीवन्त संवाद स्थापित कर सके। अपने समय के ड्राइंग रूम वीरों का जो व्यंग्यपूर्ण चित्र पूर्ण सिंह ने अपने एक निबन्ध में खींचा है, वह आज और अधिक सार्थक दिखाई देता है

“आजकल भारत में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको 105 डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया है। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहां किसी ने एक-दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई वहां हिन्दुस्तान के सारे अखबारों ने पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। यह तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखने वाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उसकी स्तुति और निंदा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे-छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो? क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में है? जो इन्होंने रंग बदला तो हमारे वीरों के रंग बदले, होठ खुशक हुए और वीरता की आशाएं टूट पड़ी।”
(सच्ची वीरता)

पूर्ण सिंह एक जागरूक और अध्ययनशील व्यक्ति थे। उन्हें प्राचीन भारतीय संस्कृति, आधुनिक पश्चिमी विचार पद्धति और जापानी बोध का गहरा अध्ययन था। यूरोप में मशीनीकरण से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को उन्होंने पहचाना था और उस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। भारतीय जीवन के अन्तर्विरोधों पर तीखे कटाक्ष उन्होंने अपने दो निबन्धों ‘पवित्रता’ और ‘आचरण की सभ्यता’ में किये हैं। रूढ़िगत मानसिकता, अर्थहीन मान्यताओं और संदर्भ-च्युत जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में उनकी बेलाग टिप्पणियां हैं। ब्रह्मचर्य की बात को लीजिए। अपने देश में इस विषय पर कितना कुछ कहा जाता है और उपदेशमृत के रूप में पिलाया जाता है। परन्तु इस बात की विश्व परिप्रेक्ष्य में कभी भी चर्चा नहीं की गयी। पूर्ण सिंह कहते हैं

“ब्रह्मचर्य का उपदेश इस देश में प्राचीन काल से चला आया है और आजकल कोई भी समाज हो, मंदिर हो, सभा हो, सत्संग हो, जहां इस देश में ब्रह्मचर्य पालन के ऊपर उत्तम से उत्तम व्याख्यान और उपदेश न होते हों। परन्तु अपने दैनिक जीवन को देखो। अफ्रीका के बहशी जिनको ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी स्वप्न में भी न आया, वे हमसे लम्बे हमसे चौड़े और हमसे अधिक पराक्रमी हैं। इंग्लैंड में जहां इस पर कभी भी इतना जोर नहीं दिया गया वहां आजकल के लड़के भी हमसे अधिक लम्बे, चौड़े बलवान, तेजवान, ज्ञानवान, विद्वान, सम्पत्तिमान, बुद्धिमान हैं। हमारी कन्याएं दुर्बल, पीले रंग की, जवानी में भी, बुढ़ी के समान और उस देश की माताएं और कन्याएं 5-5 फुट ऊंची, सुर्ख और बल और तेज की हँसी लिए हुए अकेली सारे जगत की प्रातःकाल चलकर घूमघाम कर शाम को घर पहुंच जाएं। कौन सी प्रलय आ गई है हमारे देश में। ब्रह्मचर्य का आदर्श अमली तौर पर बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गया। नजर ही नहीं आता, मुझ की देखो, तुझको देखो, इसको देखो, उसको देखो। सब जले, भुने, सड़े, सड़ाए चेहरे लिए हुए आर्य ऋषियों के नाम ले रहे हैं। बस महाराज ब्रह्मचर्य के इस विचित्र उपदेशों को बंद करो जिसमें तुमने सारी जाति को तिरस्कार दिया।

धार्मिक पाखंड, अज्ञान, अंध विश्वास और रूढ़ि विरोध आदि बातें पूर्ण सिंह जैसा मस्त-मौला, निर्भीक और सूझवान व्यक्ति ही इतने बेलाग ढंग से लिख सकता था। ‘आचरण की सभ्यता’ निबन्ध में पूर्ण सिंह ने मानवीय आचरण पर नितांत नये ढंग से विचार किया है। धर्म या धर्मग्रंथों द्वारा मनुष्य को अच्छे आचरण की प्राप्ति होती है या अच्छे आचरण द्वारा धर्म बनता है और धर्म ग्रन्थों की रचना होती है? यहीं वे जीवन से जुड़ते और जीवन में रचे बसे कर्मशील व्यक्ति में से आचरण को प्रत्यक्ष हुआ देखते हैं

“सच्चा आचरणप्रभावशील, अचल-स्थिति, संयुक्त आचरणन तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गढ़ा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न अंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष हाता है।”

(आचरण की सभ्यता)

इसी निबन्ध में पूर्ण सिंह आचरण धर्म के अन्तःसम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं

“वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हममें कहां? जब वही नहीं तक फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरूक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और हत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें। कोई भी धर्म-सम्प्रदाय आचरण रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक

नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।”

(आचरण की सभ्यता)

अध्यापक पूर्ण सिंह का हिन्दी साहित्य को योगदान इतना ही नहीं है कि उन्होंने हिन्दी निबन्ध के विकास के उन प्रारंभिक वर्षों में निबन्ध के स्वरूप की रचना की और भाषा तथा शैली का उत्कृष्ट उदाहरण सामने रखा। यह योगदान, इस दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन्होंने रूढ़िग्रस्त, निरर्थक विश्वासों से चपटे हुए अतीत के स्वर्णिम स्वप्नों में जीते हुए और परम्परा की निर्धारित लकीरों पर आंखें बंद करके चलते हुए समाज को अपने विचारों, अपनी प्रगतिशील दृष्टि और अपनी बेबाक अभिव्यक्ति से झकझोर कर जगाने का प्रयत्न किया।

उन्होंने गांधीवाद और प्रगतिवाद की पूर्वपीठिका का निर्माण किया। स्वतन्त्र भारत का संविधान जिन मूल्यों के लिए प्रतिश्रुत है, प्रो. पूरन सिंह ने उसकी परिकल्पना संविधान-निर्माण से आधी सदी पहले की थी।

‘हिन्द स्वराज’ का काम्य : सर्जकों और चिन्तकों से विचार-साम्य

□ डॉ. पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’*

गाँधी के ‘हिन्द स्वराज’ का जो काम्य है, वह कोई ‘हेजी आइडिया’ (नेहरू) या जड़, अव्यावहारिक, अतीतोन्मुख, अविकासात्मक सोच नहीं है। ‘हिन्द स्वराज’ के नीतिगत चिन्तन से समानता रखने वाले हमारे देश में ही अनेक शीर्ष चिन्तक, मनीषी, राजनेता मिल जाएंगे। इस आलोक में ‘हिन्द स्वराज’ में गाँधी की मान्यताओं के साथ उनकी समानता को दिखाने का प्रयास किया गया है। साथ ही नेहरूवियन नीति, चिन्तन और योजनाओं की विफलता-विषयक साहित्यकारों द्वारा किए गए निरूपण को भी प्रस्तुत किया गया है, जो समय से सचेत होने की चेतावनी जैसी है।

गाँधी की नीतिगत मान्यताओं को नेहरूवियन सभ्यता ने न केवल अलविदा कह दिया था, बल्कि उसका गला घोट दिया था। भारत की आजादी के समय गाँधी भारत की जमीनी हकीकत को देख रहे थे, पर नेहरू पश्चिमी सभ्यता और आधुनिकता के मोह में आकाशधर्मी हो रहे थे। देश के बुद्धिजीवी, चिन्तक और रचनाकार इस तथ्य से परिचित हो चुके थे कि ‘हिन्द स्वराज’ की नीतियों को निष्प्राण कर दिया गया है।

हिन्दी में फणीश्वर नाथ रेणु ने आजादी के सिर्फ छह साल बाद 1953 में अपना ‘मैला आँचल’ लिखा। उसमें बावनदास गाँधीवादी चरित्र के रूप में आया है, बल्कि यह कहूँ कि यह गाँधी के छायाशील को अपनाकर, उनकी नीतियों और मान्यताओं के अनुरूप जीने वाला पात्र है, जो अधिक उचित होगा। इस उपन्यास में साम्यवादी और समाजवादी पात्र भी हैं। कालीचरण भी है और बालदेव भी है। पर हत्या सिर्फ बावनदास की जाती है। वह भी भ्रष्टाचार को रोकने के विरुद्ध बैल-गाड़ियों के झड़वर द्वारा उसे कुचल कर। क्या यह हत्या केवल बावनदास की हत्या है? नहीं, यह

* पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, पूर्व अधिष्ठाता, भाषा-संकाय, पूर्व सदस्य: सीनेट एवं सिंडिकेट, पूर्व प्रधान अन्वेषक: वि. अ. आयोग वृहत शोध-प्रकल्प 1, पता : 58, लाल एवेन्यू, रेयॉन एंड सिल्क मिल, अमृतसर-143005 (पंजाब)

गाँधी की मान्यताओं और नीतियों की हत्या है। इस तथ्य को रचनाकार ने 'फिक्शन' के रूप में निरूपित किया है। वहाँ पूरा-का-पूरा काला धंधा है। कपड़े, सीमेंट और चीनी की बोरियों से भरी पचास गाड़ियाँ इस पार से उस पार कराई जा रही हैं। बावनदास इसे रोकना चाहता है। वह ठीक बैल के सामने आकर खड़ा हो जाता है। बैल उसे हुत्था मारकर गिरा देता है, वह लीक पर लुढ़क जाता है। ...“ठीक पहिए के नीचे। गड़-मड़-मड़। बापू! माँ! गाड़ी पास! कट-कट-कट गाड़ियाँ पास हो रही हैं। पचास गाड़ियाँ। आखिरी गाड़ी जब गुजर गई तो हवलदार और रामबुझावन सिंह मिलकर **बावन** की चित्ती-चित्ती लाश, लहू के कीचड़ में लथ-पथ लाश को उठाकर चलते हैं।...नदी के उस पार पाकिस्तान में फेंकना होगा इधर नहीं...हरगिज नहीं।” उपन्यास अपना निहितार्थ खोलता है, जिसे उसके सही रूप में देखा जाना चाहिए। **बावनदास** 'हिन्द स्वराज' का मॉडल है। गाँधी के शब्दों में 'हिन्द स्वराज' 'एक सम्पूर्ण जीवन-सिद्धांत' है। **बावनदास** इसे अमल में लाने की कोशिश करता है। कभी वह सोई हुई माये जी के सौन्दर्य को देखकर जहाँ अन्यथा रूप में विचलित होता है, वहीं वह पुनः सचेत रूप में अपने को संयमित करता है। ब्रह्मचर्य की मर्यादा में आता है, जो गाँधीवाद की एक प्राथमिक शर्त है। वह काले धंधे के खिलाफ अकेला मोर्चा लेता है और उसकी हत्या कर दी जाती है। रेणु ने जिस तथ्य को स्वतंत्रता मिलने के छह-सात वर्षों के बीच पर्यवेक्षित कर लिया था, उसे तथाकथित भारतीय बुद्धिजीवी और राजनेता अब तक समझ नहीं पा रहे हैं।

आजादी के ठीक सात वर्षों बाद 1954 में रामधारी सिंह दिनकर ने एक कविता लिखी **समर शेष** है। उसे भी आज 'हिन्द स्वराज' से जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता है। कवि कहता है कि अभी भारत पूरी तरह आजाद नहीं हुआ है। सही आजादी अभी बाकी है। एक संघर्ष हमने अंग्रजों के विरुद्ध किया था, पर एक संघर्ष हमें उन अपनों से करना है, जो आज हमारे शासक बने हुए हैं। प्रबुद्ध व्यक्ति गाँधी और नेहरू के इस वैचारिक अन्तर को समझ रहे हैं, पर वे तटस्थ बने हुए हैं। स्वयं कवि गाँधी और नेहरूदोनों के देश में स्वच्छन्द विचरने की बात करता है। पर नेहरू की मान्यताओं का विरोध करने की शक्ति उसमें नहीं है। वह लिखता है “जो तटस्थ है, समय लिखेगा उनका भी अपराध।”

गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में स्वराज की जो 'धारणा' व्यक्त की उसे ठीक रूप में समझा जाना चाहिए। उन्होंने सम्पादक और पाठक के वार्तालाप में सम्पादक की ओर से पाठक को जो उत्तर दिया है वह विचारणीय है। सम्पादक कहता है“इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अंग्रेजी राज तो चाहिए, पर अंग्रेज (शासक) नहीं चाहिए। आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं चाहते। मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को अंग्रेज बनाना चाहते हैं और हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुस्तान नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंग्लिस्तान कहा जाएगा। यह मेरी कल्पना

का स्वराज नहीं है।” पुनः वे अपने पाठक के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं “जिसे आप स्वराज कहते हैं वह सचमुच स्वराज है।”

प्रसिद्ध चिन्तक **लोकेश चन्द्र** ने अपने एक आलेख में **थॉमस बैबिंग्टन मैकाले** द्वारा 1835 में की गई उस टिप्पणी को उद्धृत किया है, जिसमें अंग्रेजी सभ्यता संस्कृति में रंगे हुए भारतीयों को श्रेष्ठ मध्य वर्ग बनाने के साथ-साथ उसने यह भविष्यवाणी भी की थी कि “वह रक्त और वर्ण में चाहे भारतीय रहे, परन्तु अपनी रुचि, सम्मतियों, नैतिकता और बौद्धिक दृष्टि से वह अंग्रेज होगा।” **‘हिन्द स्वराज’** में गाँधी की पूर्वोक्ति यही तो कहती है। **दिनकर** भी **गाँधी** की इस मूलभूत मान्यता से सहमत और प्रभावित हैं। उन्हें लगता है कि अंग्रेजों के जाने के बाद भारत की वह जनता शासक नहीं बन पाई, जिसकी भावना-कल्पना गाँधी ने की थी और जिसे यथार्थ में निरूपित किया जाना था, बल्कि अंग्रेजों की मानसिकता वाले काले शासक ही सिंहासनारूढ़ हो उठे। तभी वे पूर्ण स्वराज की संकल्पना को ध्यान में रखते हुए 1950 में लिखते हैं “दो राह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो, सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।” पर समय के रथ के इस घर्घर नाद को कितनों ने सुना? इस नाद को उत्पन्न करने और विकसित करने के लिए हमने क्या कभी प्रयत्न भी किए? उल्टे हमने अपने काले शासकों की चाटुकारिता ही की। उन शासकों ने जनता को अपनी ही तरह गढ़ा। उसी तरह की शिक्षा दी, उसी तरह की सभ्यता का प्रसार किया, उसी तरह की संस्कृति विकसित की, जिससे कवि ने जो यह नाद सुना और सुनाया, उसे औरों को सुनने ही नहीं दिया गया और उन्हें सत्ता द्वारा अपने अनुरूप बना लिया गया।

गाँधी ने कभी किसी निर्वस्त्र महिला के तालाब में नहाने के बाद अपने तन को ढकने का उसका जो अभाव देखा था, उसी के बाद उन्होंने केवल अधोवस्त्र (घुटने तक की धोती) पहनने का संकल्प लिया था तथा यह निश्चित किया था कि जब तक **भारत** के सभी लोगों के शरीर पर वस्त्र नहीं होगा तब तक वे कभी पूर्ण परिधान नहीं पहनेंगे। पर हमारे शासकों को कभी भारत की इस बेपनाह गरीबी की इस तीव्रता की अनुभूति नहीं हुई। वे आजादी मिलने के साल से अब तक ‘गरीबी हटाओ’ का नारा लगातार लगाते आ रहे हैं, पर गरीबी और अमीरी की खाई इन तमाम वर्षों में और अधिक फैलती ही गई है।

दिनकर जब राज्य सभा का सदस्य होकर दिल्ली आए तब उन्होंने दिल्ली पर भी कविता लिखी। इस कविता में उन्होंने भारत के गाँवों से दिल्ली की तुलना की “चल रहे ग्राम-कुंजों में पछिया के झकोर/दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में। है विकल देश सारा अभाव के तापों से/दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।” गाँधी गाँव को केन्द्र में रखना चाहते थे, पर नेहरू ने नगर को केन्द्र में रखा। दिनकर ने गाँव की जिस घोर उपेक्षा का अनुभव किया और दिल्ली की जिस महानगरीय व्यवस्था को देखा

उसी का निरूपण अपनी इस कविता में किया—“भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला/, भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में/दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।” कहना होगा कि इसके मूल में **‘हिन्द स्वराज’** की नीतिगत मान्यता ही बोल रही है। दिनकर कहते हैं—“जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा/ तब तक **दिल्ली** के भी तन पर खादी होगी।” **‘हिन्द स्वराज’** भी यही कहता है। पर क्या देश का नेतृत्व और देश का प्रशासन इस ओर अब तक ध्यान दे सका है? बासठ सालों में जो तथाकथित प्रगति हुई भी है उसमें कितने गाँव मॉडल हो पाए हैं?

गाँधी ‘हिन्द स्वराज’ में **आत्मबुद्धि** के समर्थक हैं। उस समय भावी स्वतंत्र भारत की कल्पना में भी वे इस आत्मबुद्धि की सक्रियता और विकास के आकांक्षी थे, पर **नेहरू विपर्यय-बुद्धि** के समर्थक रहे। देश के आजाद होने पर उन्होंने गाँधी के परामर्श को नहीं माना और **विपर्यय-बुद्धि** का बीजारोपण कर उसे ही सक्रिय और विकसित किया। प्रसिद्ध चिन्तक **आनन्द कुमार स्वामी** ने अपनी पुस्तक **Art and Swadeshi** में पाश्चात्य भौतिक समृद्धि के प्रति ठीक गाँधी की तरह ही विरोध व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में भौतिक समृद्धि का समर्थन अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने किया है। पर यह उनके सपनों का भारत नहीं है, जिसकी अन्तरात्मा पश्चिमी प्रभाव से दमित है, भले ही वह राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता क्यों ने प्राप्त कर चुकी हो। गाँधी की तरह ही कुमार स्वामी के लिए अपना दर्शन और अपनी संस्कृति का महत्त्व अधिक है, उसका मान अधिक है। राजनीति और राजनेता को इसे समझना चाहिए। उन्होंने राजनीति और अर्थशास्त्र को **गन्दा व्यापार** तक कहा है, क्योंकि पहले के मूल में **शक्ति** और दूसरे के मूल में **पैसा** कहते हैं। गाँधी ‘पैसा’ को इविल मानते थे। गाँधी जिसे भारतीय सभ्यता कहते हैं, आनन्द कुमार स्वामी उसे संस्कृति कहते हैं। वे राजनीति और अर्थशास्त्र को वर्जित कर अपना विश्वास संस्कृति में दिखाते हैं। पश्चिमी सभ्यता उनके लिए विपर्यय बुद्धि है। वे आत्मबुद्धि की बात करते हैं। गाँधी ने ‘हिन्द स्वराज’ में लिखा है, “पश्चिम की सभ्यता को निकाल बाहर करने की ही हमें कोशिश करनी चाहिए। दूसरा सब अपने-आप ठीक हो जाएगा।” अपनी कृति **Dance of Shiva** में **कुमार स्वामी** ने अंग्रेजों से प्रश्न किया है, “किस आधार पर तुम कहते हो कि तुम्हारी संस्कृति मानव जाति की सच्ची संस्कृति है? तुम तो तर्क और **विपर्यय-बुद्धि** से यही सिद्ध करते रह गए कि राक्षसोचित उद्दंड कर्म ही मनुष्य के विकसित, स्वतंत्र और उन्नत होने की निशानी है” (निर्मल कुमार का अनुवाद)। कुमार स्वामी गाँधी के हिन्द स्वराज में निरूपित भारतीय सभ्यता के पक्षपाती और पाश्चात्य आधुनिकतावादी सभ्यता के विरोधी हैं। वे औपनिषदिक परम्परा के मनीषी माने जाते हैं। गाँधी के हिन्द स्वराज में भी यह औपनिषदिक भारतीय परम्परा ही सहजता से निरूपित हुई है। कुमार स्वामी और गाँधी के चिन्तन में अद्भुत समानता

है। गाँधी के हिन्द स्वराज में व्यक्त धारणा की तरह ही कुमार स्वामी कहते हैं “मत भूलो कि मशीनीकरण से हो रहे लोभ में पश्चिम आत्मबुद्धि को भूल गया है। वैज्ञानिक भी इन्द्रियाश्रित बुद्धि के मुरीद हो गए हैं। यह बुद्धि लोभ, मद और विलासिता के गलियारों में ले जाएगी।” (भावानुवाद: निर्मल कुमार)। हिन्द स्वराज कहता है “पैसा आदमी को दीन (लाचार) बना देता है। ऐसी दूसरी चीज दुनिया में विषय-भोग है। ये दानों विषय (बातें) जहरीले हैं। उनका डंक सॉप के डंक से ज्यादा जहरीला है।... इसलिए हमारे देश में मिलें कायम हों, इसमें खुश होने जैसा कुछ नहीं है।

गाँधी राजनीति के क्षेत्र में औपनिषदिक चिन्तक की परम्परा में आने के कारण भारतीय संस्कृति को सबसे ऊपर रखते हैं। इसे ही वे भारतीय सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। उनकी दृष्टि में राजनीति और अर्थशास्त्र को भारतीय सभ्यता से परिचालित होना चाहिए, पश्चिमी सभ्यता से नहीं। हिन्द स्वराज में व्यक्त गाँधी की मान्यताओं से आनन्द कुमार स्वामी की मान्यताएँ मिलती-जुलती हैं, विशेषतः सभ्यता और मशीनीकरण के संदर्भ में, जबकि नेहरू की मान्यताएँ **राजा राममोहन राय** से।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर हमारे महत्त्वपूर्ण सर्जक-चिन्तन हैं। वे भी **हिन्द स्वराज** की सभ्यता और शिक्षा-विषयक मान्यताओं से विचार-साम्य रखते हैं। उन्होंने 17 मई, 1934 को **कोलम्बो** में एक व्याख्यान दिया था, जिसमें उन्होंने प्रचलित आधुनिक शिक्षा-पद्धति की आलोचना करते हुए भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से शिक्षा की व्यवस्था करने पर बल दिया था, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्यक् विकास और निर्माण सम्भव हो सके। उन्होंने बाह्य बनाम आन्तर का प्रश्न उठाया था। आधार बनाम आधेय का अन्तर स्पष्ट किया था। रवीन्द्र ने अपने उस व्याख्यान में आधुनिक प्रचलित शिक्षा-पद्धति की तुलना भड़कीले भवन जैसे बाहरी प्रदर्शनात्मक पदार्थों से की थी। उनके अनुसार यह शिक्षा वैसी ही है जैसे मूल संगीत के बिना कोई बाजे खरीदे और दृष्टि के बिना कोई चश्मे खरीदे। वर्तमान आधुनिक शिक्षा आम्यन्तर की उपेक्षा करने वाली और बाह्य को सर्वस्व मानने वाली है। **रवि बाबू** के अनुसार यह शिक्षा संसार-संचालन के लिए बुरे तर्कों, बेईमानी, धूर्तता आदि का पाठ पढ़ाने वाली शिक्षा है। इस शिक्षा में महाजनी सभ्यता है, वैश्य संस्कृति है। यहाँ शिक्षा की आत्मा को बेच दिया गया है। यह शिक्षा-व्यवस्था हमारे मन-मस्तिष्क में भौतिक वस्तुओं के प्रति अदम्य आकर्षण पैदा करती है, जो अन्ततः हमारे अपमान और विनाश का कारण बनती है। रवि बाबू चाहते थे कि आधुनिक शिक्षा में भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों का प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। **गाँधी** इसे ही नीति और मूलभूत धर्म से अनुप्राणित शिक्षा कहते हैं। वे पहले ही इस आधुनिक शिक्षा के विषय में **हिन्द स्वराज्य** में लिख चुके थे कि “प्राइमरीप्राथमिक शिक्षा को लीजिए या ऊँची शिक्षा को लीजिए, उसका उपयोग मुख्य बात में नहीं होता। उससे हम मनुष्य नहीं बनतेउससे हम अपना कर्तव्य नहीं जान सकते।” इस शिक्षा के मूल में जो सभ्यता

सक्रिय है उसके विषय में वे बताते हैं“इस सभ्यता की सही पहचान तो यह है कि लोग बाहरी (दुनिया) की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता-सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं।”...“अपनी सभ्यता को हम आपकी सभ्यता से कहीं ऊँची समझते हैं।”...“हिन्द की सभ्यता सबसे अच्छी है और यूरोप की सभ्यता चार दिन की चाँदनी है।”...“हम मानते हैं कि आपकी कायम की हुई शालाएँ और अदालतें किसी काम की नहीं हैं। उनके बजाए हमारी पुरानी असली शालाएँ और अदालतें ही हमें चाहिए।”

गाँधी अहिंसा के कट्टर समर्थक हैं। वे शान्ति चाहते हैं। रवि बाबू भी युद्ध बनाम शान्ति के प्रश्न को उठाते हैं और अहिंसा में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं। **गाँधी कर्मयोगी हैं, तो रवीन्द्र भावयोगी**। पर दोनों के बीच उक्त चिन्तन-बिन्दुओं पर गजब की समानता है।

गाँधी ने अपने राजनीतिक चिन्तन में जिस **सिविल नाफरमानी** या **असहयोग आन्दोलन** और **सत्याग्रह** को अपनाया उस नीति का अदभुत विचार-साम्य **भारत के ज्ञानयोगी महर्षि अरविन्द** के परवर्ती राजनीतिक चिन्तन में प्राप्त होता है। अरविन्द (Aurobindo) पहले क्रान्तिकारी थे। वे बंगाल के क्रान्तिकारी पत्र **‘वन्देमातरम्’** में नियमित लिखते थे। पर उन्होंने 9 अप्रैल से 23 अप्रैल, 1907 के वन्देमातरम् के अंकों में असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध पर बड़ा ही सुविचारित और प्रभावकारी आलेख धारावाहिक रूप में लिखा। उसका शीर्षक था **Doctrine of Passive Resistance**. बाद में इसका पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ। इसमें इस लेख-माला की अन्तिम कड़ी **Disobedience** भी प्रकाशित है, जिसे उन दिनों **ब्रितानी** सरकार द्वारा छापामारी किए जाने के कारण प्रकाशित नहीं किया जा सका था। इसमें अरविन्द ने लिखा था “हमारी अपनी कोशिशों के द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आत्मविश्वास ही हमारी स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य है। भले ही हम इसे शान्ति के माध्यम से अन्त-अन्त तक ले जा पाएँ या नहीं, पर हम (इसके सिवा) किसी भी दूसरे रास्ते से अपनी इस घातक पराधीनता से मुक्त नहीं हो सकते।” अरविन्द ने यह मान लिया था कि निष्क्रिय प्रतिरोध के अलावा भारतीयों के पास और कोई मार्ग शेष नहीं रह गया था। वे भारत की स्वतंत्रता के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने के पक्षधर थे। गाँधी की वैचारिक मानसिकता भी इसी तरह की थी, जिसे उन्होंने हिन्द स्वराज में 1909 में शब्दबद्ध किया। हम अरविन्द को निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का उद्भावक मानें या न मानें, पर उनके साथ गाँधी के इस विचार-साम्य को तो हमें स्वीकार करना ही होगा। हाँ, अरविन्द और गाँधी की निष्क्रिय प्रतिरोध-विषयक बुनियादी दृष्टि में एक मूलभूत अन्तर अवश्य है। अरविन्द स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए गोले-बारूद वाली क्रान्ति को भी अनुचित नहीं मानते थे। पर उस समय की भारतीय परिस्थितियों में सशस्त्र क्रान्ति की संभावना को नहीं देखते हुए वे निष्क्रिय प्रतिरोध की रणनीति के प्रस्तावक-समर्थक बने थे। दूसरी ओर गाँधी गोला-बारूद, उग्रवाद, क्रान्तिधरिता के पूरे और कट्टर

विरोधी थे। उनके लिए **निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनयअवज्ञा और सत्याग्रह** स्वतंत्रता-प्राप्ति के नैतिक साधन थे, जिसका परिचालन आत्मबल से होता था। **गाँधी** के निष्क्रिय प्रतिरोध में आत्म-स्वीकार था, इसमें आत्मा की आवाज थी, जबकि **अरविन्द** का निष्क्रिय प्रतिरोध एक स्थितिजन्य निदान था। यह उनकी आत्मा की आवाज से समर्थित नहीं था।

अरविन्द से **गाँधी** का दूसरा साम्य **भारतीय सभ्यता**विषयक दोनों की मान्यताओं में अन्तर्हित है। गाँधी ने हिन्द स्वराज में लिखा है “मैं मानता हूँ कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखाई है, उसको दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोए हैं, (कोई) उनकी बराबरी कर सके ऐसी चीज देखने में नहीं आती। रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही रह गया, मिस्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिकंजे में फंस गया और चीन का कुछ भी कहा नहीं जा सकता। लेकिन गिरा-टूटा जैसा भी हो हिन्दुस्तान आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है।”...“हिन्दुस्तान पर आरोप लगाया जाता है कि वह ऐसा जंगली, ऐसा अज्ञान है कि उसके जीवन में कुछ फेर-बदल कराए ही नहीं जा सकते। यह आरोप हमारा गुण है, दोष नहीं।”...“हिन्दुस्तान की सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है, पश्चिम की सभ्यता का झुकाव अनीति को मजबूत करने की ओर है। इसलिए मैंने उसे हानिकर कहा है।” **अरविन्द** ने अपनी पुस्तक **भारतीय संस्कृति के आधार** में लिखा है कि “हमारी प्राचीन सभ्यता किन्हीं भी प्राचीन युग की व मध्ययुग की सभ्यताओं के साथ तुलना में टिक सकती है। **यूनानी** सभ्यता से कहीं अधिक उच्चाकांक्षी, अधिक सूक्ष्म, बहुमुखी, अनुसंधानप्रिय और गम्भीर; **रोमन** सभ्यता से अपेक्षा कहीं अधिक उच्च और कोमल, पुरानी **मिस्री** सभ्यता से कहीं अधिक उदार और आध्यात्मिक, अन्य किसी भी एशियाई सभ्यता से कहीं अधिक विशाल और भौतिक, अठारहवीं सदी से पहले के यूरोप की सभ्यता से कहीं अधिक बौद्धिक, इन सब सभ्यताओं में जो कुछ (श्रेष्ठ) था, उन सबसे अधिक की स्वामिनी यह भारतीय सभ्यता अतीत मानव-संस्कृतियों से अधिक शक्तिशाली, आत्मस्थित, प्रेरणादायी और महाप्रतापशाली रही है” (**डॉ. शिवप्रसाद सिंह** का अनुवाद)। ऐसा मानते और कहते हुए उन्होंने इसके प्रतिपक्ष का भी सहज अनुमान कर लिया था और स्वयं ही यह प्रश्न भी खड़ा कर लिया था “भला ऐसी कौन-सी सभ्यता रही है, जो सर्वांगपूर्ण रही हो, जिस पर गहरे कलंक न लगे हों, जिसमें निष्ठुर नाटक न रहे हों। इसमें भी (भारतीय सभ्यता में) बड़े-बड़े छल-छिद्र और अनेक अंध गलियाँ रही हैं, बहुत-सी अधजुती या अनजुती जमीन भी रही है, पर कौन-सी सभ्यता खाई-खन्दकों एवं अभावात्मक पहलुओं से खाली रही है?” गाँधी ने भी हिन्द स्वराज में पाठक के द्वारा भारतीय सभ्यता में बाल-विधवाओं, एकाधिक पतित्व, नियोग-प्रथा, देवदासी प्रथा, बलि-प्रथा जैसे दोष निकालने पर सम्पादक के रूप में यह उत्तर दिया है कि

“आपने जो दोष बताए वे तो सचमुच दोष ही हैं। उन्हें कोई सभ्यता नहीं कहता। वे दोष सभ्यता के बावजूद कायम रहे हैं।”

गाँधी ‘हिन्द स्वराज’ की बात करते हैं, अरविन्द ने भी ‘पूर्णस्वराज’ का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। **गाँधी** राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनों विशेषताओं से युक्त थे, अरविन्द के व्यक्तित्व में भी मानो राजनीति और अध्यात्म का परिणय सम्पन्न हुआ था। गाँधी स्वतंत्र भारत में पूर्ण स्वराज चाहते थे, जो नेहरूवियन शासन-प्रणाली से संभव नहीं था। इसके लिए उन्होंने **नेहरू** को पत्र लिखा था। पर नेहरू ने गाँधी का आग्रह ठुकरा दिया था। उन्होंने ब्रितानी पार्लियामेन्ट की नकल की। अपने प्रजातन्त्र को उसी आधार पर गठित किया-कराया। गाँधी ने हिन्द स्वराज्य में ब्रितानी पार्लियामेन्ट के बारे में लिखा है “जिसे आप पार्लियामेन्ट की माता कहते हैं, वह तो बाँझ और वेश्या है। ये दोनों शब्द बहुत कड़े हैं, तो भी उस पर अच्छी तरह लागू होते हैं। मैंने उसे **बाँझ** कहा, क्योंकि उसने अब तक एक भी अच्छा काम नहीं किया। अगर उस पर जो दबाव डालने वाला कोई न रहे, तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उसकी कुदरती हालत है और वह वेश्या है, क्योंकि जो मन्त्रिमण्डल उसे रखे उसके पास वह रहती है। आज उसका मालिक **एस्क्विथ** है, जो कल **बालफर** होगा और परसों कोई और।... पार्लियामेन्ट (ब्रितानी) के मेम्बर दिखावटी और स्वार्थी पाए जाते हैं। सब अपना मतलब साधने की सोचते हैं। आज तक एक भी चीज को पार्लियामेन्ट ने ठिकाने लगाया हो, ऐसी कोई मिसाल देखने में नहीं आती। बड़े सवालियों की चर्चा जब पार्लियामेन्ट में चलती है तब उसके मेम्बर पैर फैलाकर लेटते हैं या बैठे-बैठे झपकियाँ लेते हैं। उस पार्लियामेन्ट में मेम्बर इतने जोर से चिल्लाते हैं कि सुनने वाले हैरान-परेशान हो जाते हैं।...प्रधानमन्त्री को पार्लियामेन्ट की थोड़े ही परवाह रहती है। वह तो अपनी सत्ता के मद में मस्त रहता है। अपना दल कैसे जीते, इसी की लगन उसे रहती है। पार्लियामेन्ट सही काम कैसे करे, इसका वह बहुत कम विचार करता है। अपने दल को बलवान बनाने के लिए प्रधानमन्त्री पार्लियामेन्ट से कैसे-कैसे काम करवाता है, इसकी मिसाल जितनी चाहिए उतनी मिल सकती है।” अरविन्द ने भी लिखा है कि “यूरोप में प्रजातंत्र का अर्थ है मन्त्रियों की या भ्रष्ट उपमन्त्रियों की या स्वार्थलिप्त पूँजीपतियों की सत्ता। ये सब अस्थिर जनता के शासन का मुखौटा लगाए रहते हैं।”

गाँधी अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध थे। उनका मानना था कि “अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, राग, जुलम वगैरा बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए लोगों ने प्रजा को ठगने में, उन्हें परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है” (**हिन्द स्वराज**)। वे शिक्षा के मूल में नैतिक शिक्षा और मूलधर्म की बुनियादी शिक्षा के आग्रही थे। वे भारतीय पद्धति की शिक्षा चाहते थे। वे मनुष्य-निर्मृति, कर्तव्य बोध-दात्री शिक्षा चाहते थे। वे शिक्षा को मनुष्य को निर्मित करने वाले

कारखाने के रूप में स्वरूपित-विकसित करना चाहते थे। उन्होंने **हिन्द स्वराज** में **हक्सले** के विचारों को उद्धृत करते हुए बताया है कि सच्ची और सही शिक्षा क्या है तथा उसका मंतव्य क्या है। **अरविन्द** ने भी अपने समय की प्रचलित शिक्षा से अलग हटकर नई शिक्षा का जो स्वरूप प्रस्तावित किया है उसमें **गाँधी** की धारणा से काफी समानता प्राप्त होती है।

डॉ. राम मनोहर लोहिया राजनीतिक चिन्तकों में अग्रगण्य रहे हैं। अप्रैल, 1946 से 30 जनवरी, 1948 तक वे **गाँधी** के अत्यंत प्रिय और आत्मीय थे। प्रसिद्ध समाजशास्त्री **डॉ. सत्यमित्र दुबे** के अनुसार, “**गाँधी** जी के अहिंसा, सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रमों का लोहिया पर गहरा प्रभाव पड़ा था।... **गाँधी** द्वारा प्रयुक्त असहयोग आन्दोलन (1920-21) और सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-31) के व्यापक जन-उभार का **डॉ. लोहिया** की राजनीतिक कार्य-प्रणाली और चिन्तन पर गहरा असर पड़ा था। अन्याय, दमन, शोषण, सरकारी जुल्म के विरुद्ध वे अहिंसक जन-प्रतिरोध और सविनय अवज्ञा के राजनीतिक उपकरणों के प्रबल पक्षधर थे।” स्वयं **लोहिया** ने लिखा है, “किसी भी व्यक्ति को सिर्फ अपने बलबूते, बिना किसी की सहायता के, अत्याचार का विरोध करने के योग्य बनाना मेरी समझ से, **गाँधी** के व्यक्तित्व और कर्मधारा की सबसे बड़ी विशेषता है।” **डॉ. लोहिया ने सिविल नाफरमानी : सिद्धान्त और अमल** नामक अपनी पुस्तिका में बताया है, “सिविल नाफरमानी किसी दिन हिन्दुस्तान को और दुनिया को खून और रक्तपात से बचाएगी। सिर्फ प्रचार और तर्क नपुंसक होते हैं। प्रचार और तर्क में ताकत तब आती है जबकि सिविल नाफरमानी उससे जुड़ जाती है। सिविल नाफरमानी अथवा अन्याय से शान्तिपूर्ण लड़ना अपने-आप में एक कर्तव्य है। कर्तव्य में आगा-पीछा या नफा-नुकसान नहीं देखा जाता।” उन्होंने यह भी लिखा कि “मेरा प्रण है सिविल नाफरमानी को संसार में फैला देना सरकार चाहे गोली मारे, अपनी आरे से कंकड़ भी नहीं फेंकना हैमारेगे नहीं, लेकिन मानेंगे नहीं।” **गाँधी** ने **हिन्द स्वराज** में लिखा था “सत्याग्रह या आत्मबल को अंग्रेजी में **पैसिव रेसिस्टेन्स** कहा जाता है। जिन लोगों ने अपने अधिकार पाने के लिए खुद दुःख सहन किया था, उनके दुःख सहने के ढंग से यह शब्द बरता गया है। इसका ध्येय लड़ाई के ध्येय से उलटा है। जब मुझे कोई काम पसन्द न आए और वह मैं न करूँ, तो उसमें मैं सत्याग्रह या आत्मबल का उपयोग करता हूँ...”

गाँधी जी सितम्बर, 1938 के ‘आर्यनपाथ’ के ‘हिन्दस्वराज अंक’ के लिए जो अपना संदेश भेजा था वह हम सबके लिए स्मरणीय है। उसमें लिखा था कि “यह पुस्तक अगर मुझे आज फिर से लिखनी हो, तो कहीं-कहीं मैं इसकी भाषा बदलूँगा। लेकिन इसे लिखने के बाद जो तीस साल मैंने आँधियों में बिताए हैं, उनमें मुझे इस पुस्तक में बताए हुए विचारों में फेर-बदल करने का कुछ भी कारण नहीं मिला।” यह संदेश **हिन्द स्वराज** की परवर्ती आवृत्तियों में अंकित है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्हें

उनके विचार अपने वर्षों के आत्म और बाह्य-निरिक्षण के बाद भी गलत नहीं लगे, सो उन्होंने उसे खारिज नहीं किया। **काका साहेब** को इन सब बातों को सोचना चाहिए था। **नेहरू** की मान्यताओं को जो उन्होंने पूरे **भारत** राष्ट्र के नाम पर थोपना चाहा, वह अनुचित था। हाँ, इन बासठ वर्षों में **भारत** के पचास प्रतिशत नागरिक अब वैसा ही सोचने लगे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

आज **हिन्द स्वराज** के शताब्दी वर्ष में, उसके प्रकाशन के सौ वर्षों के बीत जाने के बाद भी उसकी सार्थकता बनी हुई है। पर आज भी **हिन्द स्वराज** के बारे में एकांगी दृष्टिकोण रखने वालों की कमी नहीं है।

गाँधी ने भारतीय सभ्यता पर आ रहे और आने वाले खतरे को आज से सौ वर्ष पूर्व देख लिया था। इसलिए उन्होंने **हिन्द स्वराज** में **सच्ची सभ्यता कौन** शीर्षक आग्रह-भरा प्रयास किया कि हम इस सभ्यता को निकाल फेंकें।

हिन्दी कथाकार और चिन्तक **निर्मल वर्मा** ने भी इस खतरे का ठीक उसी तरह अहसास किया है कि “यदि प्रगति की रौ यथावत चलती रही, तो एक दिन हमारी परम्परा की विशिष्ट अन्तर्दृष्टि एक ऐसी वैज्ञानिक सभ्यता के नीचे कुचल दी जाएगी, जिसे आज हम आधुनिक युग की वास्तविकता कहते हैं।” (शताब्दी के ढलते वर्षों में) **हिन्द स्वराज** में **गाँधी** जी को निदानात्मक विश्वास **भारतीय सभ्यता** के प्रति दृष्टिगत होता है, कुछ उसी अन्दाज में **निर्मल** भी इसका निदान निर्दिष्ट करते हैं, “मुझे यह भी लगता है कि पश्चिमी सभ्यता के चरित्र और दिशा को स्वयं मेरी (भारतीय) संस्कृति बुनियादी तौर से परिवर्तित और प्रभावित कर सकती है। अपने आंतरिक विश्वास के साथ, **गाँधी** जी यहीं चाहते थे।” (पूर्ववत्) **निर्मल** ने अपने इस आलेख में भारतीय और पश्चिमी सभ्यता की तुलना की है। उनके अनुसार हमारी सभ्यता मनुष्य और सृष्टि के अखंडित सम्बन्ध पर टिकी हुई है, जिसके आदर्श के मूल में है सार्वभौमिक सम्पूर्णता। इस सभ्यता में हमारी आत्मचेतना बाहरी दुनिया से एक नातेदारी का अनुभव करती और उसे अपने से जोड़े रहती है। उसकी अभिव्यक्ति में उसका अहम दूसरे के अहम के विरुद्ध कभी संघर्ष नहीं करता, जबकि “एक यूरोपवासी की अस्मिता उसकी आत्मचेतना में वास करती है और यह आत्मचेतना हमेशा दूसरों के विरुद्ध होकर ही अपने को प्रतिष्ठित कर सकती है।” (पूर्ववत्)

गाँधी भारत की लोक-धारा से जुड़े थे। उनका भारतीय दृष्टिकोण उनकी आत्मा की पुकार से उद्भूत और संपुष्ट था। **निर्मल वर्मा** ने अपने उसी आलेख में **गाँधी** का स्मरण करते हुए आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व यह लिख दिया था कि “उन्होंने (**गाँधी** ने) समूचे भारतीय यथार्थ को एक अखंडित सत्य की तरह स्वीकार किया। वह हमारे परोक्ष को प्रत्यक्ष में, हमारे विश्वास को व्यवहार में बदलना चाहते थे, ताकि हम इतिहास में अपने गौरव और अपनी शर्तों पर जी सकें। वह अपने प्रयास में असफल नहीं हुए, हम ही उसकी संभावनाओं तक पहुँचने में असफल रहे, किन्तु

जो विकल्प उन्होंने सुझाया था वह आज भी उतना ही जीवन्त और गौरवपूर्ण है, जितना पहले था। वह भारतीय संस्कृति का स्वप्न है, जिससे आज समूची मानव जाति की नियति जुड़ी है। क्या समय रहते हम उसे चुनने का साहस जुटा पाएँगे?” कहना न होगा कि यह प्रश्न **गाँधी** के **हिन्द स्वराज** के चिन्तन और सिद्धान्तों से सहमति और साम्य रखने वाले वैसे प्रत्येक भारतीय चाहे वह सामान्य नागरिक हो या चिन्तक, बुद्धिजीवी या सामाजिक कार्यकर्तासे क्रियात्मक उत्तर माँगता है।

भाषा और संस्कृति

□ श्रीरंजन सूरिदेव*

भाषा और संस्कृति में परस्परापेक्षिता है। भाषा और संस्कृति ही किसी देश की राष्ट्रीय एकता का मूलाधार होती है। भारतीय संस्कृति अन्य कई संस्कृतियों का समुच्चय है। विभिन्न भाषाओं के संगम पर आधृत भारतीय संस्कृति की सारस्वत धारा संख्यातीत वर्षों से, शाश्वत रूप से प्रवाहित है। भाषिक संस्कृति एक ऐसा सूत्र है, जिसने कोटि-कोटि भारतीयों को एक माला में ग्रथित कर रखा है। इनमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, बौद्ध, जैन, ईसाईसब सम्मिलित हैं। इस जातीय विशालता के कारण ही इसे आर्य-संस्कृति की आख्या दी गई है। इस आर्य-संस्कृति में मानव के जीवन मूल्यों के वे सभी तत्त्व निहित हैं, जो मानव को मानव से, संस्कृति को संस्कृति से एवं भाषा को भाषा से सम्बद्ध करते हैं। उदात्त मानवीय आदर्शों से अभिमण्डित भारतीय संस्कृति के आचारपूत सन्देशों को युगपुरुषों और सन्त-महात्माओं ने समय-समय पर समग्र देश में प्रसारित किया, जिनमें वैदिक आर्ष परम्परा और सांस्कृतिक संचेतना से सम्पन्न विद्वत्परम्परा के लोग सम्मिलित रहे।

राम, कृष्ण, वाल्मीकि, व्यास, गौतम बुद्ध, महावीर, कालिदास, तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, नानक, तुकाराम, ज्ञानदेव, नामदेव, सन्त ज्ञानेश्वर, कम्बन, तिरुवल्लुवर जैसे युगपुरुषों, महाकवियों एवं सिद्ध सन्तों ने अपने भाषिक एवं सांस्कृतिक उपदेशों के माध्यम से देश की सांस्कृतिक चेतना को उन्मेषित कर राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ की। भारतवर्ष में तीर्थों की अस्मिता भाषिक संस्कृति का ही एक महार्घ आयाम है, जो भावात्मक एकता को जागरित करते हुए राष्ट्रीय एकता का संवर्द्धन करती रही है। वस्तुतः, भारतीय सारस्वत चिन्तन ने सांस्कृतिक समन्वय को सदैव सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है।

भारतवर्ष में अनेक जातियों, धर्मों, भाषाओं, संस्कृतियों और परम्पराओं का देश है। भारतीय संस्कृति की बहुभाषिकता ही इसका आशंसनीय वैशिष्ट्य है। देश की

* साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव हिन्दी के जाने-माने लेखक-समीक्षक हैं।

37, भा. स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, काली-मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-800020। दूरभाष : 2351220

परम्परागत उदात्तता की संवृद्धि में संस्कृति के साथ उस देश की भाषा का महनीय स्थान होता है, क्योंकि भाषा संस्कृति का अभिव्यंजक स्वरूप होती है। प्रारम्भ में संस्कृत भाषा ने, जो देवभाषा कही जाती थी, जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी का उद्घोष करके भारतीय संस्कृति में निहित आभ्यन्तर चेतना के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित किया। संस्कृत भाषा में ही जो भारतीय संस्कृति का मूल उत्स है, जनमानस को मातृभूमि की विराटता का बोध कराने के तत्त्वों का व्यापक विनिवेश मिलता है। उदाहरणस्वरूप यह श्लोक द्रष्टव्य है :

गंगे! च यमुने! चैव गोदावरि! सरस्वति!
नर्मदे! सिन्धु-कावेरि! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

इस श्लोक में भारत की सभी प्रमुख नदियों की, पूजा के जल में उनके सन्निहित होने की प्रार्थना की गई है।

संस्कृति के आदिस्त्रोत वैदिक मन्त्रों में भारतीय संस्कृति के विस्मयकारी उदात्त रूप दृष्टिगत होते हैं। श्रद्धापर्व (श्रद्ध) की विधि में प्रयुक्त राष्ट्रीय एकता और संस्कृति का उद्घोषक यह मन्त्र द्रष्टव्य है :

गोत्रन्नो वर्धतां, दातारो नोऽभिवर्धन्तां, वेदाः सन्ततिरेव च । श्रद्धा च नो मा व्यगमद् देयं च नोऽस्तु । अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि । याचितारश्च नः सन्तु, मा च याचिष्म कश्चन । एताः सत्याशिषः सन्तु ।

अर्थात्, हमारे गोत्र की वृद्धि हो, दाताओं की संख्या बढ़े; हमारी सन्ततियाँ वेदज्ञ बनें। हमारे मन में श्रद्धा बनी रहे। हम दान करते रहें। हमें पर्याप्त अन्न की प्राप्ति हो। हम अतिथियों का स्वागत करते रहें। हमसे माँगने वालों की संख्या बढ़े, हम किसी के सामने हाथ न फैलायें। ये आशीर्वाच्य सत्य हों।

डॉ. सम्पूर्णानन्द के शब्दों में “भारतीय जीवन में जो स्थान संस्कृत का है, वह किसी दूसरी भाषा का नहीं। संस्कृत संस्कारों की भाषा है। यह हमारी परम्परागत अविच्छिन्न संस्कृति की प्रतीक है। इसलिए जब तक संस्कृत अमर है, तब तक भारतीय संस्कृति अमर है।”

इस प्रकार संस्कृत-भाषा ने भारतीय संस्कृति को समग्र राष्ट्र में फैलाकर राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाये रखा। कालान्तर में, संस्कृत और उसमें निहित संस्कृति का समग्र उत्तरदायित्व हिन्दी संवहन करने लगी। यों तो, सभी भारतीय भाषाएँ संस्कृत की सन्ततियाँ हैं, परन्तु मुख्य रूप से हिन्दी पर अपेक्षाकृत अधिक दायित्व है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में “हिन्दी के पास संस्कृति की ज्ञान-गरिमा, पुरानी पालि एवं प्राकृत की परम्परा का बाँकपन, समग्र श्रमण-साहित्य की त्यागवृत्ति और अपभ्रंश-साहित्य का पौरुष-पराक्रम और जीवन के रसास्वाद की वृत्ति की धरोहर है।”

हिन्दी कोटि-कोटि मनुष्यों की मातृभाषा है और समग्र देश की राष्ट्रभाषा भी है। श्री प्रभुलाल चौधरी के शब्दों में “हिन्दी राष्ट्र की संस्कृति की वाङ्मय प्रतीक है।

हिन्दी भाषा हमारी भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों की प्रतीक है। उसी के द्वारा हमारे उज्वल अतीत और उज्वलतर अनागत के समन्वय की यथार्थ अभिव्यक्ति हो सकती है।”

ज्ञातव्य है, प्राचीन काल से ही अनेक सन्त-महात्माओं और साहित्य तथा समाज के शिखरपुरुषों ने भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हिन्दी-भाषा के माध्यम से किया है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नामदेव, नरसी मेहता, नानक, मीराबाई, चैतन्य महाप्रभु, विद्यापति, खुसरो, रहीम, बिहारी आदि ने भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति के निमित्त उस भाषा का चयन किया, जो सार्वदेशिक और सार्वलौकिक थी। पुराकाल में भगवान महावीर ने यदि अपने धर्म और संस्कृति के प्रसार के लिए तत्कालीन जनभाषा प्राकृत को अपनाया, तो भगवान बुद्ध ने पालि को। इस प्रकार, भाषाएँ संस्कृति का संवर्द्धन संख्यातीत वर्षों पूर्व से करती आई हैं। भाषा की भूमिका संस्कृति की संवाहिका के रूप में ऐतिहासिक महत्त्व की रही है।

राष्ट्रकवि दिनकर ने भी भाषा और संस्कृति को अन्योन्याश्रयी माना है। उन्होंने लिखा है कि प्रत्येक प्राचीन जाति का संस्कार (संस्कृति) उसकी आत्मा और उसके प्राण उसकी अपनी भाषा में बसते हैं। भारत की आत्मा और उसके सूक्ष्म संस्कारों का निवास संस्कृत में है। भाषा में सांस्कृतिक एकता की क्षमता की चर्चा के क्रम में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—“संस्कृत इस देश में बसने वाले लोगों की सेवा, और नहीं तो, तीन-चार हजार वर्षों से करती आई है। भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत के घाट पर पानी पीकर जीती आई हैं और आज भी उनका उपजीव्य यही भाषा है।” (द्र. ‘संस्कृति के चार अध्याय’)

अवश्य ही, उत्तर भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से निकलकर विकसित हुई हैं। ये भी परस्पर भिन्न हैं, किन्तु संस्कृत ने हिन्दी को एक खास ढंग से विकसित करके भारत को ऐसी भाषा दे दी, जो थोड़ी बहुत सभी भाषा-क्षेत्रों में समझ ली जाती है।

भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में जैन मुनियों के अवदान का ऐतिहासिक महत्त्व है। ब्राह्मण अपने धर्मग्रन्थ संस्कृत में और बौद्ध पालि में। किन्तु जैन मुनियों ने प्राकृत के विभिन्न रूपों का उपयोग किया और प्रत्येक काल-क्षेत्र में जब जो भाषा प्रचलन में आई जैनों ने उसी के माध्यम से अपने सिद्धान्त और संस्कृति का प्रचार किया। महावीर ने अर्द्ध-मागधी भाषा को इसलिए अपनाया कि मागधी और शौरसेनी दोनों भाषाओं के लोग उनका उपदेश समझ सकें।

हिन्दी, मराठी और गुजराती भाषाओं के प्रचारित होने के पूर्व, इन प्रदेशों में जो भाषा प्रचलित थी, उसमें जैनों का विशाल साहित्य है, जिसे अपभ्रंश साहित्य कहते हैं। भारत की भाषाओं में एक ओर तो प्राचीन भाषाएँ संस्कृत और प्राकृत हैं तथा दूसरी ओर आधुनिक देश्य भाषाएँ। अपभ्रंश-भाषा इन दोनों भाषा-समूहों के बीच की सेतुभाषा है। इसलिए, भाषागत संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश का

ततोऽधिक महत्त्व है। इस दिशा में महाकवि स्वयंभू की अपभ्रंश-रामायण 'पउम-चरिउ' की क्रोशशिलात्मक एवं ऐतिहासिक भूमिका है।

भारतीय संस्कृति के व्यापक विस्तार की दृष्टि से जैन मनीषियों की संस्कृत-सेवा का सातिशय मूल्य है। व्याकरण, काव्य, साहित्य, न्याय, छन्दःशास्त्र, कोष, गणित, भूगोल आदि विषयों पर संस्कृत में जैनाचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों की संख्या ब्राह्मण या वैदिक ग्रन्थों की संख्या से कम नहीं है।

विशेषतः दक्षिण में प्राकृत-जैनशास्त्र के माध्यम से जो भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ, उससे भारत की राष्ट्रीय एकता में और अधिक वृद्धि हुई। जैन मुनियों और उनके साहित्य के साथ संस्कृत के अनेक शब्द दक्षिण पहुँचे और वे दक्षिण की प्रमुख भाषाओं तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम में मिल गये। जैनों ने दक्षिण में बहुत-सी पाठशालाएँ भी स्थापित की थीं। आज भी वहाँ विशेषतः कन्नड़ के क्षेत्र में बच्चों को अक्षरारम्भ कराते समय णमोकार मन्त्र का द्वितीय मन्त्र वाक्य 'ओं नमः सिद्धम्' (मूल प्राकृत 'ओं णमो सिद्धाणम्') पढ़ाया जाता है। आज भी बिहार-झारखण्ड में इस वाक्य का लोक प्रचलित फकड़ा इस प्रकार हो गया है 'ओनामासी धंग, गुरुजी पतंग।'

दक्षिणोत्तर में भाषा के माध्यम से संस्कृति के विस्तार की इस परम्परा को राष्ट्रकवि दिनकर ने भी लक्ष्य किया है। वह लिखते हैं "वैष्णव धर्म की तैयारी दक्षिण में हुई थी और दक्षिण से ही वह उत्तर वालों को मिला, जिसके प्रमाण रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य हैं, जो सबके सब दक्षिण में ही जन्मे थे, तथापि रामानुज-परम्परा के समर्थ वाहक होने के कारण हम उन्हें भी दक्षिण की आध्यात्मिक सन्तान मान सकते हैं। खोज करने पर शायद यह बात भी मालूम हो सकती है कि वैष्णव धर्म के विकास में जैनमत का भी योगदान था। गुजरात की जनता पर जैन शिक्षा (अहिंसा और सादगी) का आज भी अच्छा प्रभाव है तथा यह भी कोई आकस्मिक बात नहीं है कि अहिंसा, उपवास और सरलता के उतने प्रबल समर्थक गांधीजी भी गुजरात में ही जन्मे थे।" (द्र. 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. 161)

अमीर खुसरो (जन्म : 1253 ई., मृत्यु 1325 ई.) की काव्यभाषा में भारतीय संस्कृति का व्यापक पल्लवन प्रत्यक्ष होता है। खुसरो ने भारतीय संस्कृति की प्रशंसा केवल देशभक्ति के जोश में आकर नहीं लिखी, प्रत्युत इसके लिए उन्होंने कई ठोस प्रमाण भी दिये हैं। उनके विवरण से यह ज्ञात होता है कि चौदहवीं शती में भारतीय संस्कृति संसार में सर्वाग्रणी थी। उन्होंने अपनी मसनवी में भारतीय संस्कृति के अनेक आभ्यन्तर गुणों की चर्चा की है। वह बड़े ही बुद्धिवादी, जिन्दादिल और असाम्प्रदायिक मुसलमान थे। दिल्ली की बड़ाई करते हुए इन्होंने लिखा है कि 'इस चमन की कहानियाँ अगर मक्का सुन ले तो वह भी श्रद्धा के साथ भारत की परिक्रमा करने लगेगा।'

तुलसीदास विश्व कवियों में पांक्त्य हैं। उनकी काव्यभाषा भारतीय संस्कृति का आक्षरिक रूप है, उनके विश्व-प्रसिद्ध संस्कृति-ग्रन्थ 'रामचरितमानस' में भाषिक क्रान्ति और सांस्कृतिक क्रान्ति के समानान्तर दर्शन होते हैं। रहीम, जो तुलसीदास के सांस्कृतिक मित्र थे, उन्होंने 'मानस' के बारे में लिखा

'हिन्दुआन को वेद सम तुरकहिं प्रगट कुरान।'

राष्ट्रकवि दिनकर की कालजयी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' को आधार बनाकर सोचें तो स्पष्ट होगा कि भाषा और संस्कृति में केवल पारस्परिकता ही नहीं, वरन् उनमें एकमेकता भी है।

भगवान बुद्ध के समय से भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ स्पष्ट रही हैं। एक धारा वह है, जो वर्णाश्रम धर्म को सुरक्षित रखने के प्रति आग्रहशील है और जिसे हम श्रुति-स्मृति के प्रति विश्वास और तीर्थ, व्रत, मन्दिर, मूर्तिपूजा के प्रति श्रद्धा रखने वाली वैदिक धारा कह सकते हैं। इस धारा के आचार्य मनु और शंकर एवं कवि कालिदास, जयदेव, विद्यापति और तुलसीदास हैं। आधुनिक काल में इस धारा के ओजस्वी प्रतिनिधि पं. मदनमोहन मालवीय एवं स्वामी करपात्रीजी महाराज जैसे शिखर पुरुष थे। दूसरी धारा दिनकर के शब्दों में, बुद्ध के कमण्डलु से निकली थी और बौद्ध आचार्यों से होकर सरहपा आदि सिद्धों तक पहुँची और कबीर, नानक, दादूदयाल एवं जायसी से होकर आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती, और महात्मा गांधी के ग्यारह व्रतों में प्रकट हुई थी। भारतीय सांस्कृतिक गतिविधि पर नजर रखने वालों का अनुमान है कि भविष्य यदि अच्छा है तो एक न एक दिन ये दोनों धाराएँ एक हो जायेंगी और कबीर की भाषिक संस्कृति के प्रति लोगों का अधिक से अधिक सम्मान होगा।

दिनकर ने जिस सामासिक संस्कृति ('कम्पोजिट कल्चर') का उल्लेख किया है, वह मूलतः भाषिक संस्कृति से ही जुड़ी हुई है। दिनकर के एतद्विषयक विवरण या मन्तव्य का निष्कर्ष यह है कि भारत में जब मुसलमान आये, तब यहाँ की भाषा दो रूपों में चल रही थी। इनमें एक का उदाहरण चन्द्रवरदाई, विद्यापति आदि की कविताओं में प्राप्य है और दूसरे का उदाहरण खुसरों की मुकरियों और पहेलियों में उपलभ्य है। अकबर ने जिस सामासिक संस्कृति पर बल दिया, वह ईरानी कम, भारतीय अधिक थी। यह वह संस्कृति थी, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता की वास्तविक झलक दिखाई पड़ती है।

इस संस्कृति के पोषक मुसलमान इस देश की भाषा को अपनी भाषा मानने लगे थे। भाषाशास्त्र के महान् विज्ञाता डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार सोलहवीं शती के अन्त तक सभी भारतीय मुसलमान (विदेशी, देशज अथवा मिश्रित रक्त वाले) फारसी को एक विदेशी भाषा के रूप में अनुभव करने लगे थे और देशज भाषाओं को

पूर्णतः स्वीकार कर चुके थे। और, जब उन्होंने उत्तरी भारत में देश की भाषा में रचना करना प्रारम्भ किया, तब देशज भाषाओं में सर्वाधिक प्रतिष्ठित ब्रजभाषा या अवधी को ही अपनाया, जिसका उदाहरण मुबारक, आलम, शेख, रसखान आदि कवियों की काव्यभाषा है।

ज्ञातव्य है कि मुस्लिम संस्कृति में हिन्दी स्वतन्त्र भाषा के रूप में जीवित थी। मुस्लिम बादशाह अपने कार्यालयों में अरबी-फारसी के साथ हिन्दीनवीस भी रखते थे। उनके राज्य के जनसम्पर्क की भाषा, यानी राजभाषा हिन्दी ही थी और आय-व्यय का लेखा-जोखा हिन्दी में रखा जाता था। राजा टोडरमल के आग्रह के कारण अकबर ने फारसी को राजभाषा या राज्यभाषा के रूप में घोषित किया था।

उन्नीसवीं शती की समाप्ति के पूर्व तक उर्दू का चलन साहित्यिक स्तर पर नहीं था। हिन्दी-क्षेत्रों की भाषा का नाम लोग हिन्दी ही जानते थे, जिसका प्रमाण खुसरो, जायसी, आतिश आदि की काव्यभाषा में अक्षरित दृष्टिगत होता है। इस प्रकार, भाषाएँ संस्कृति की संवाहिका होती हैं, इसलिए सांस्कृतिक अध्ययन के समानान्तर भाषिक अध्ययन अनिवार्य है।

विश्व में सर्वाधिक बोली/समझी जानेवाली भाषा : एक शोध रिपोर्ट 2009

□ जयंती प्रसाद नौटियाल*

जब भी किसी सामान्य व्यक्ति या अच्छे पढ़े-लिखे व्यक्ति से प्रश्न किया जाए कि संसार में सबसे ज्यादा बोली/समझी जाने वाली भाषा कौन सी है तो तत्काल उत्तर मिलता है “मंदारिन अर्थात् चीनी भाषा...। माना हम कहें कि नहीं यह सही नहीं है दूसरी भाषा का नाम लो; तो तपाक से उत्तर मिलेगा अंग्रेजी...। आज तक भाषा के बारे में जो हम मानते आए हैं वह गलत है तथा यह विदेशी भाषा वैज्ञानिकों की संकुचित मनोवृत्ति का परिणाम है। विदेशी भाषा विज्ञानी भारत और भारतीय भाषिक स्थिति से परिचित नहीं थे। इसलिए विश्व में भाषा के संबंध में भ्रामक तथ्य दिए गए हैं। सत्य तो यह है कि विश्व में सर्वाधिक बोली/समझी जानेवाली भाषा हिंदी है। यह कोई कपोल कल्पना नहीं बल्कि मेरे 29 साल के गहन शोध का परिणाम है।

हिंदी बनाम उर्दू :

इस संबंध में, मैं यह भी स्पष्ट करना चाहता हूँ कि हिंदी भाषा जानने वालों की संख्या में उर्दू जानने वाले भी शामिल हैं। वस्तुतः उर्दू अलग भाषा है ही नहीं यह तो हिंदी की एक शैली मात्र है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से अलग भाषा उसे माना जाता है जिसकी अपनी अलग शब्दावली हो तथा अलग व्याकरण हो तथा जो संरचना की दृष्टि से अलग हो। उर्दू में हिंदी के ही शब्द हैं; हिंदी व्याकरण ही इस पर लागू होता है तथा इसकी संरचना भी समान है। इसलिए उर्दू अलग से कोई भाषा नहीं है। उर्दू को हिंदी से अलग भाषा समझना नितान्त मूर्खतापूर्ण है। यह बात अलग है कि कुछ राज्यों/देशों में उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती है, परन्तु लिपि तो माध्यम है। लिपि बदलने से भाषा नहीं बदलती है। उदाहरण के लिए हिंदी की लिपि देवनागरी है। देवनागरी में कई भाषाएँ लिखी जाती हैं जैसे मराठी, संस्कृत, कोंकणी, सिंधी, पाली, प्राकृत आदि। इसी प्रकार रोमन लिपि

* डॉ. जयंती प्रसाद नौटियाल, सहायक महाप्रबंधक क्रेडिट कार्ड प्रभाग, प्र. का.

में अंग्रेजी सहित कई भाषाएँ लिखी जाती हैं। इसलिए लिपि के आधार पर किसी भाषा को अलग भाषा का दर्जा नहीं दिया जाता है। इसलिए उर्दू, हिंदी का ही रूप है यह निर्वाह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए।

शोध की पृष्ठभूमि

‘विश्व में हिंदी का स्थान’ विषय पर मैंने शोध कार्य 1981 में शुरू किया था तथा विश्व के समस्त देशों के दूतावासों, राजनयिकों (राजदूत, सांस्कृतिक एतासे, सचिव, डिप्लोमेट) आदि अधिकृत पदधारियों से संपर्क करके आँकड़े जुटाए थे। इन आँकड़ों का विविध स्रोतों से मिलान एवं प्रति जाँच (काउन्टर चेक) की गई। जब यह जाँच पूरी हुई तब इस शोध रिपोर्ट के सार को विश्व के चुनिंदा भाषा विज्ञानियों/विद्वानों के पास उनके मत जानने हेतु भेजा गया। इन विद्वानों से प्राप्त सुझावों को इसमें शामिल किया गया। इस विषय पर कुछ स्पष्टीकरण भी पूछे गए थे इनका भी समाधान किया गया। इस विषय पर पहली रिपोर्ट सन् 1997 में प्रकाशित हुई। 1997 की शोध रिपोर्ट में शोध के आँकड़ों को अद्यतन करते हुए इनका पुनरनिरीक्षण किया गया एवं प्रामाणिक स्रोतों से मिलान के बाद पूर्ण रूप से इनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर सन् 2005 में इस शोध को भारत के लगभग 200 समाचार पत्रों/पत्रिकाओं में प्रकाशित किया गया तथा इसका अंग्रेजी अनुवाद विश्व के 180 राष्ट्रों के इंटरनेट समाचार पत्रों में प्रकाशित किया गया।

भाषा शोध अध्ययन पर चीन की प्रतिक्रिया :

चूँकि यह मामला चीनी भाषा (मंदारिन) के वर्चस्व संबंधित था इसलिए चीन के एक इंटरनेट पोर्टल ने इस शोध पर विश्वभर के इंटरनेट उपयोगकर्ताओं से चैट करवाया अर्थात् चर्चा करवायी। इस चर्चा में एक भी विचार ऐसा नहीं आया जिसमें यह कह हो कि यह शोध गलत है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि विश्व के सभी देशों ने यह मान लिया कि विश्व में हिंदी पहले स्थान पर है।

भारतीय विद्वानों की प्रतिक्रिया :

यह खुशी का विषय है कि भारत के अनेकों विद्वानों ने भी इस शोध को सही माना है तथा उन्होंने इसके प्रचार-प्रसार में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है तथा दे रहे हैं। लेकिन कुछ लेखक मेरे इस शोध के आँकड़ों में थोड़ा फेर बदल करके अपने नाम से भी छपवा रहे हैं जिससे बचने के लिए अपने इस शोध कार्य को मैंने भारत के रजिस्ट्रार ऑफ कॉपी राइट के यहाँ अपने नाम से कॉपी राइट कराया है। अतः जहाँ

भी इस शोध का उल्लेख किया जाए वहाँ मेरे नाम का उल्लेख भी अवश्य किया जाए इस शोध के आधार पर यह बताया कि हिंदी का विश्व में पहला स्थान है।

प्रामाणिकता

चूँकि जनसंख्या में निरंतर बदलाव आता रहता है, इसलिए शोध संबंधी आँकड़ों को नियमित रूप से अद्यतन किए जाने से ही शोध प्रामाणिक माना जा सकता है। इसलिए इस भाषा शोध अध्ययन को हर दो साल के अंतराल पर अद्यतन किया जा रहा है। ये आँकड़े सही हैं क्योंकि विभिन्न अधिकृत स्रोतों से प्राप्त होने के बाद भी इन आँकड़ों की सरकारी या विश्वस्तरीय प्रामाणिक संस्था द्वारा प्रकाशित आँकड़ों से प्रतिजांच की गई है। इसके उपरांत ही इन्हें प्रकाशित किया गया है।

2005 और 2009 की स्थिति में बदलाव

आप यदि मेरी 2005 में प्रकाशित रिपोर्ट की और 2009 की रिपोर्ट की तुलना करें तो आप पाएँगे कि वर्ष 2005 में विश्व में हिन्दी जानने वालों की संख्या एक अरब दो करोड़ थी जो वर्ष 2009 में बढ़कर 1 अरब सत्ताइस करोड़ हो गई है अर्थात् इसमें 25 करोड़ की वृद्धि हुई है। इसके निम्नलिखित कारण हैं

1. विभिन्न देशों में स्कूल स्तर पर बड़ी संख्या में हिंदी की पढ़ाई शुरू हो गई है।
2. भारत में अनेक टी. वी. चैनलों के आने से हिंदी धारावाहिकों एवं हिंदी के कार्यक्रमों की लोकप्रियता बढ़ी है। भारत और भारत से बाहर के देशों में हिंदी के ये कार्यक्रम और फिल्में बहुतायत से देखी जा रही हैं; इससे हिंदी सीखने में परोक्ष रूप से बहुत मदद मिली है।
3. राजभाषा विभाग, भारत सरकार एवं सरकार द्वारा विभिन्न बैंकों, उपक्रमों व सरकारी कार्यालयों में नियुक्त हिंदी अधिकारियों, हिंदी प्राध्यापकों के अथक प्रयासों से हिंदी के प्रचार-प्रसार में काफी वृद्धि हुई है।
4. भारत में एवं विदेशों में गठित स्वयं सेवी संस्थाओं व हिंदी के विकास में लगे गैर-सरकारी संगठनों जैसे, संस्था, संघ, सभा, परिषद, न्यास, संस्थान, निकाय और प्रचार सभाओं के हिंदी प्रचारकों के सद् प्रयासों से लाखों विद्यार्थी हिंदी सीख रहे हैं।
5. भारत एवं विदेशों से सरकारी संगठनों तथा निजी संस्थाओं से प्रकाशित हो रही हजारों हिंदी पत्रिकाओं तथा हिंदी समाचार पत्रों ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

6. मारीशस में विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना और विनोद बाला जी जैसे कर्मठ व्यक्तित्व के मार्गदर्शन में विश्व में हिंदी प्रचार-प्रसार को नया आयाम मिला है।

चीनी भाषामंदारिन की स्थिति

पिछली रिपोर्ट में आपने देखा होगा कि वर्ष 2005 में विश्व में मंदारिन भाषा जानने वाले 90 करोड़ थे। इनकी संख्या में 67 लाख की मामूली वृद्धि हुई है। इतनी धीमा गति से वृद्धि होने के कारण निम्नवत् हैं

1. चीनी में तिब्बतियों आदि का मंदारिन (चीनी भाषा) के प्रति आकर्षण कम हो गया है। अतः वे अपनी मातृभाषा तिब्बती को बढ़ावा दे रहे हैं।
2. चीन की अन्य भाषाएं जैसे केंटोनी, हक्का, फुकीन आदि जैसी चीनी भाषाएं जानने वालों में स्व भाषा अभिमान जागृत हो गया है इसलिए वे मंदारिन भाषा के प्रति उदासीन हो गए हैं। अब वे मंदारिन नहीं सीख रहे हैं, या बहुत कम संख्या में सीख रहे हैं।
3. चीन में भाषा सीखने वाली निजी संस्थाओं के प्रयास अब अंग्रेजी सिखाने की ओर उन्मुख हो रहे हैं। इससे जन सामान्य में यह गलत संदेश चला गया है कि मंदारिन की अपेक्षा अंग्रेजी महत्त्वपूर्ण है। अतः अंग्रेजी का मोह वहाँ बढ़ गया है और मंदारिन के प्रति मोह कम हो गया है।

उक्त कारणों से मंदारिन सीखने वालों की संख्या में वृद्धि की दर बहुत कम होती जा रही है।

शोध के अन्य पहलू

इस शोध से एक पहलू और भी उजागर हुआ है। विभिन्न देशों में स्वभाषा प्रेम एवं राष्ट्र के विकास के संदर्भ में यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि जिस देश में अपनी भाषा के प्रति जितना प्रेम होता है वह राष्ट्र उतना ही अखंड एवं विकासशील होता है। राष्ट्र के सामाजिक एवं आर्थिक विकास को भाषा परोक्ष रूप से बहुत प्रभावित करती है। अपनी भाषा में सोचने से मौलिकता और सृजनात्मकता का विकास होता है। विदेशी भाषा से मनुष्य का चिंतन तो कुंठित होता ही है साथ ही मौलिकता भी प्रभावित होती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी :

हम चाहे हिंदी को संख्या की दृष्टि से देखें या सहजता या व्यापकता की दृष्टि से देखें तो दोनों ही स्थितियों में हिंदी, संयुक्त राष्ट्र संघ की अधिकृत भाषा होने की

अधिकारिणी है। इस दिशा में सरकार की ओर से व निजी संस्थाओं की ओर से प्रयास तो हो रहे हैं परन्तु इन प्रयासों में समन्वय का अभाव है। अतः हमें अपने प्रयासों को समेकित करते हुए गंभीरता से इस दिशा में आगे बढ़ना होगा तभी मजिल मिलेगी।

इस तथ्य का प्रचार-प्रसार आवश्यक है कि हिंदी जानने वाले विश्व में सर्वाधिक हैं।

अनुबंध-1

विश्व में हिन्दी/मंदारिन जानने वालों की संख्या (भौगोलिक क्षेत्रवार)

भौगोलिक क्षेत्र	कुल जनसंख्या	हिंदी जाननेवालों की संख्या	चीनी जाननेवालों की संख्या
(क) पश्चिम एशियाई देश	88859500	3852300	2200
(ख) अफ्रीकी देश	644113080	3321530	7800
(ग) केंद्रीय एवं दक्षिण अमेरिकी क्षेत्र	494057000	1107600	45000
(घ) दक्षिण पूर्व एशिया	573741000	5924500	20463000
(ङ) यूरोपीयन देश	659448000	3404900	6000
(च) पूर्वी एशिया एवं प्रशांत क्षेत्र	1527953700	1147000	880003000
(छ) अमेरिकी देश	334530000	3000000	5000
(ज) अफगानिस्तान, केंद्रीय/पश्चिमी एशिया	151876000	185000	3000
(झ) दक्षिण एशियाई क्षेत्र	1497715000	1231930000	7000
(ञ) भारत में बसे शरणार्थी	16000000	15000000	शून्य (Nil)
(ट) अन्य राष्ट्र 500 से कम जानने वाले	785598614	8950	122000
महायोग (क से ट तक)	6773891894	1268836780	900664000
पूर्णांकित योग	6774000000	1270000000	900670000

स्रोत : डॉ. जयंती प्रसाद नौटियाल द्वारा किया गया शोध अध्ययन 2009

अनुबंध-2

विश्व में हिन्दी/मंदारिन जानने वालों की संख्या

(सांख्यिकी अप्रैल 2009 तक अद्यतन)

क्र. सं.	राष्ट्रों का नाम	कुल जन-संख्या	हिन्दी जाननेवालों की सं.	चीनी जाननेवालों की सं.
(क) पश्चिम एशियाई देश				
1.	आर्मेनिया	2972000	500	
2.	बहरीन	708500	155000	500
3.	साइप्रस	788000	1300	
4.	इराक	27500000	500	500
5.	कुवैत	2505000	360000	500
6.	ओमान	3205000	465000	200
7.	कतर	907000	200000	
8.	सऊदी अरब	27600000	2050000	500
9.	सं. अ. अमीरात	444000	130000	
10.	यमन	22230000	490000	1000
	कुल जनसंख्या	88859500	3852300	2200
(ख) अफ्रीकी देश				
1.	दक्षिणी अफ्रीका	43998000	1600000	500
2.	अल्जीरिया	33333000	800	500
3.	अंगोला	12264000	900	
4.	बेनिन	8078000	1100	
5.	बोटसवाना	1816000	26000	
6.	केमेरून	18060000	1050	500
7.	चाड	9886000	900	
8.	कोट डी आयवरी	18013000	1200	
9.	डिजीबाउटी	497000	680	
10.	इरिट्रिया	4907000	3900	
11.	इथोपिया	76512000	1500	1000
12.	गांबिया	1688000	800	
13.	घाना	22931000	10000	500

14.	गिनिया बिस्सू	1473000	500	
15.	केप वर्दे	423000	5000	
16.	केन्या	36914000	150000	1000
17.	लीबिया	6037000	21000	800
18.	मेडागास्कर	19449000	95000	
19.	माली	11996000	500	
20.	मारीशस	1251000	850000	500
21.	मोजाम्बीक	20906000	73000	
22.	नामीबिया	2055080	700	
23.	नाइजीरिया	135031000	98000	
24.	रीयूनियन	900000	290000	1000
25.	स्नेगल	12522000	500	
26.	शेशेल्स	82000	8000	
27.	सूडान	39380000	7000	
28.	तंजानिया	39384000	15000	1000
29.	ट्यूनीशिया	10276000	500	
30.	यूगांडा	30262000	28000	500
31.	जांबिया	11478000	17000	
32.	जिंब्वावे	12311000	13000	
	कुल जनसंख्या	644113080	3321530	7800

(ग) केंद्रीय एवं दक्षिण अमेरिकी देश

1.	अर्जेन्टीना	40302000	4800	
2.	बार्बाडोस	281000	9000	
3.	बेलिज	294000	3000	
4.	ब्राजील	190011000	10000	
5.	चिली	16285000	1700	
6.	कोलम्बिया	44378000	500	
7.	कोस्टारिका	4134000	550	
8.	इक्वेडर	13756000	500	
9.	ग्वाटेमाला	12728000	1500	
10.	गयाना	769000	420000	15000
11.	जमाइका	2780000	17000	30000
12.	मैक्सिको	108701000	2000	
13.	पनामा	3242000	10000	

14. पेरु	28675000	800	
15. सेंट लूसिया	171000	750	
16. सूरीनाम	471000	188000	
17. ट्रिनिडाड एवं टोबोगो	1056000	433000	
18. वेनेजुएला	26023000	4500	
कुल जनसंख्या	494057000	1107600	45000

(घ) दक्षिण पूर्व एशिया

1. ब्रूनेई	374000	1800	46500
2. कंबोडिया	13996000	7000	15000
3. इंडोनेशिया	234694000	90000	4900000
4. लाओस	6522000	900	500
5. मलेशिया	24821000	2700000	4800000
6. म्यांमार	47374000	2600000	900000
7. फिलिपींस	91077000	102000	500
8. सिंगापुर	4553000	310000	2000000
9. थाइलैंड	65068000	112000	7800000
10. वियतनाम	85262000	800	500
कुल जनसंख्या	573741000	5924500	20463000

(ङ) यूरोपीय देश

1. आस्ट्रिया	20434000	22000	
2. बेल्जियम	10392000	18000	
3. बुल्गारिया	7323000	200	500
4. डेनमार्क	5468000	6000	500
5. फिनलैंड	5238000	5000	
6. फ्रांस	63714000	70000	
7. जर्मनी	82401000	105000	
8. ग्रीस	10706000	25000	
9. आयरलैंड	4109000	3800	
10. इटली	58148000	100000	500
11. नीदरलैंड्स	16571000	250000	
12. नार्वे	4628000	20000	
13. पोलैंड	38518000	30000	
14. पुर्तगाल	12643000	80000	

15. रूस	141378000	48000	
16. स्लोवाकिया	5448000	900	
17. स्पेन	40448000	98000	500
18. स्वीडन	9031000	48000	
19. स्विजरलैंड	7554000	39000	
20. यूक्रेन	46291000	11000	1000
21. यूनाइटेड किंगडम	60776000	2420000	3000
22. चेक गणराज्य	10229000	5000	
कुल जनसंख्या	569448000	3404900	6000

(च) पूर्वी एशिया एवं प्रशांत क्षेत्र

1. आस्ट्रेलिया	20434000	300000	
2. चीन	1321852000	50000	785000000
3. हांग कांग	6980000	82000	1000
4. जापान	127433000	47000	
5. उत्तर कोरिया	23301000	9000	1000
6. न्यूजीलैंड	4116000	150000	
7. ताइवान	22859000	9000	95000000
8. फीजी	978700	500000	10000
कुल जनसंख्या	1527953700	1147000	880003000

(छ) अमेरिकी देश

1. संयुक्त राज्य अमेरिका	301140000	1900000	3000
2. उत्तरी अमेरिका-कनाडा	33390000	1100000	2000
कुल जनसंख्या	334530000	3000000	5000

(ज) अफगानिस्तान, केंद्रीय पश्चिमी एशिया

1. अफगानिस्तान	31890000	82000	
2. कजाकिस्तान	15285000	5000	500
3. उजबेकिस्तान	27780000	4000	1000
4. तुर्कमिनिस्तान	5097000	2000	500
5. ईरान	56397000	2000	
6. ईजराइल	6427000	90000	1000
कुल जनसंख्या	151876000	185000	3000

(झ) दक्षिण एशियाई क्षेत्र

1. भारत	1130000000	830000000	
2. पाकिस्तान	164742000	140000000	
3. बंगलादेश	150448000	80000000	
4. नेपाल	28902000	18000000	
5. भूटान	2328000	800000	7000
6. श्रीलंका	20926000	1100000	
7. मालदीव	369000	30000	
कुल जनसंख्या	1497715000	1231930000	7000

(ट) भारत में बसे शरणार्थी

1. बंगलादेशी	14000000	14000000	
2. तिब्बती	2000000	1000000	
कुल जनसंख्या	16000000	15000000	शून्य (Nil)

(ठ) अन्य देश

1. 500 से कम जानने वाले			
योग	785598614	8950	122000
महायोग	6773891894	1268836780	900664000

स्रोत : भाषा शोध अध्ययन 2009, जयंती प्रसाद चौटियाल

मुक्तिबोध की युग चेतना

□ बच्चा यादव*

कबीर हाथ में लुकाठी लिये आह्वान करते हैं: 'जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ। यहाँ कबीर के निहितार्थ को समझना जरूरी है। दरअसल, यह उस समय के समाज की आवश्यकता थी कि सामंती-पूँजीवादी समाज में आम जन की बदहाली, अशिक्षा, अज्ञान, पाखण्ड और शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति के लिए चेतना जगाने का अहम् दायित्व लेखक और कलाकार निभायें, यही युग चेतना है। इस दायित्व को विश्व के अग्रणी लेखकों ने बखूबी निभाया है। भारत में हिन्दी लेखकों में कबीर, निराला, मुक्तिबोध तथा नागार्जुन के नाम इस संदर्भ में खासतौर पर लिये जा सकते हैं।

मुक्तिबोध की सृजन प्रक्रिया में ज्ञान-संवेदना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान और अनुभव ही व्यापक संदर्भ में हमारी संवेदना को निखारते और गहराते हैं। मुक्तिबोध जब-जब बाह्य के अभ्यान्तरीकरण की बात करते हैं, तो वे बाह्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसके अभ्यान्तरीकरण को महत्त्व देते हैं, क्योंकि यह सृजन-प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। मुक्तिबोध ने मार्क्स, डार्विन की वैज्ञानिक भौतिकवादी वस्तुपरक दृष्टि को स्वीकारा और उसे आत्मचिंतन-प्रक्रिया से जोड़कर एक ऐसा रसायन प्रस्तुत किया जो मुक्तिबोधीय युग-चेतना को अभिव्यंजित करता है और यही कारण है कि मुक्तिबोध की रचनाओं में उनका आत्मसंघर्ष उनकी व्यापक युगचेतना को अर्थवान बनाता है।

‘अंधेरे में’ कविता उनकी युगचेतना के व्यापक परिदृश्य को प्रस्तुत करती है, जिसमें युगों की पीड़ा, व्यथा और विवेक की गतिशील छायाएँ हैं

“जिनमें कि जल में
सचेत होकर सैकड़ों सदियां, ज्वलंत अपने बिम्ब फेंकती!
वेदना नदियां।
जिनके डूबे हैं युगानुयुग से।
मानव के आँसू
पितरों की चिंता का उद्विग्नरंग भी

* बच्चा यादव, जानकी सदन, श्रीकृष्ण नगर, कोर्ट स्टेशन, पूर्णियाँ 854301

*विवेक पीड़ा की गहराई बेचैन
डूबा है जिसमें श्रमिक का संताप!*

वस्तुतः मुक्तिबोध की यह जनवादी दृष्टि है जो श्रमिक की पीड़ा की भी पहचान करती है और यही उन्हें युगचेतना सम्पन्न कवि बनाती है। मुक्तिबोध की कविताओं में काल-बिम्बों का रचनात्मक रूप मिलता है जो विभिन्न क्षेत्रोंसमाज, दर्शन, धर्म, पुरातत्व, विज्ञान और इतिहास से लिये गये हैं, जैसेजल, बरगद, महल, प्रस्तर खंड, भूगर्भीय-भेदन, ब्रह्म, राक्षस, पहाड़, चट्टानें, जीवाष्म, प्रकाशवर्ष, परमाणु ऊर्जा आदि। ये सभी बिम्ब और रूपाकार मुक्तिबोध की युगचेतना को किसी न किसी रूप में अर्थ देते हैं और अर्थ देने की इस प्रक्रिया में कवि का आत्मसंघर्ष वैयक्तिक न रहकर सामूहिक हो जाता है। कवि का रचना संसार एक बीहड़, उबड़-खाबड़ संसार है जिसमें युगीन दर्द है, पीड़ा है और है संघर्षरत मानव जीवन की ऊर्जा। 'महल' शोषक शक्ति का प्रतीक है और उसके प्रतिकार में जन की शक्ति अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है।

मुक्तिबोध समाज के टूटते-पीसते आदमी की कथा को अपनी 'एक अभूतपूर्व त्रिदोही का आत्मकथन' शीर्षक कविता में पूरी शिद्दत के साथ अर्थ देते हैं

*“खूबसूरत कमरों में कई बार
हमारी आँखों के सामने
हमारे विद्रोह के बावजूद
बलात्कार किये गये
नक्षीदार कक्षों में।”*

और भी,

*“सिकुड़ते हुए घेरे में वे तन-मन
दबतेपिघलते हुए भाप बन गये
हम बागी करार दिये गये।”*

और फिर,

*“बंद तहखानों में
कुओं में फेंक दिये गये।”*

यह है आतंक और दमन का स्वरूप। ऐसा क्यों हुआ, इसका उत्तर स्वयं कवि के शब्दों में

*“क्योंकि हमें ज्ञान था,
ज्ञान अपराध बना।”*

तथापि, इस आतंक और तानाशाही में जन जी रहे हैं, यह भी सृष्टि का क्या कम चमत्कार है?

“इतने भीम जड़ीभूत
टीलों के नीचे दबे हैं
फिर भी जा रहे हैं
सृष्टि का चमत्कार।”

मुक्तिबोध ने इतिहास के इस सार्वकालिक व्यंग्य की बड़ी सतर्कता से अभिव्यक्ति दी है। यह चित्र ऐसे आम आदमी की है जिसे इतिहास ने हाशिये पर रख छोड़ा है।

वस्तुतः मुक्तिबोध बाह्य यथार्थ को आन्तरिक ऊर्जा देते हुए उसे अनेक तरह के बिम्बों, प्रतीकों से सम्बद्ध करते हुए इतिहास की पुनर्रचना करते हैं। वे व्यक्ति की खोज के प्रति सजग हैं। मुक्तिबोध की युगचेतना में गतिशील परम्परा स्पष्ट है। वे अपने विवेक-सम्मत ज्ञान से परम्परा को ग्रहण करते हैं। यह सत्य है कि वर्तमान अतीत की उपज है और भविष्य वर्तमान की कोख से जन्म लेता है। अतः जीवित अतीत की पहचान युगीन चेतना की पूर्व मान्यता है। मुक्तिबोध को जीवित अतीत की पहचान है। अतः वे परम्परा को रूढ़ अथवा अंध-विश्वास के द्वारा नहीं बल्कि अपनी ज्ञान-प्रक्रिया द्वारा ग्रहण करते हैं। कवि के शब्दों में

“कि वे तो दे गये हैं, अद्यतन सब शास्त्र
मेरा भी सुविकसित हो गया है मन
मेरे हाथ में है क्षुब्ध सदियों के, विविध भाषी, विविध देशी,
अनेकों ग्रंथपुस्तकपत्र, जिनमें मगन होकर मैं
जगत संवेदनों से आगमिष्यत् के
सही नक्शे बनाता हूँ।

मुक्तिबोध की युगचेतना के दो महत्वपूर्ण तत्त्व हैं परिवर्तन और प्रगति। कोई भी प्रगति परिवर्तन से ही संभव है और प्रगति वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। मार्क्स ने संसार को समझने के लिए नया रास्ता दिया और परिवर्तन के लिए नई दृष्टि दी। यह मार्क्स का क्रांतिदर्शन था जो सर्वहारा को केन्द्र में लाता है। मुक्तिबोध ने मार्क्स की द्वन्द्वात्मक धारणा को स्वीकार करते हुए उसे जनसंघर्ष का सापेक्ष माना। मुक्तिबोध ने शोषण को मात्र सर्वहारा तक सीमित नहीं रखा, बल्कि वे सर्वव्यापी शोषण के प्रति सजग रहे। शोषण को वे जन के लिए बंदी गृह मानते हैं

“शोषण के बंदीगृह जनमें
जीवन की तीव्र धार होगी।”

और जन को वे कुहरे के जनतंत्री बानर मानते हैं

“जो भीड़ हैं, डार्क मासेज हैं
सत्ता के शिखरों पर स्वर्णिम
हमला न कर बैठे खतरनाक,

कुहरे के जनतंत्री, बानर थे, नर ये।
समुदाय, भीड़
डार्क मासेज ये, गाँव ये।”

यहाँ ‘डार्क मासेज’ कोई निष्क्रिय इकाई नहीं हैं, बल्कि यह वर्गचतना के क्रियात्मक स्वरूप को रेखांकित करता है। यह ‘डार्क मासेज’ यानी सामाजिक जीवन का यह अंधेरा लगातार रूप बदलता है, इसलिए रहस्यपूर्ण भी है। निराला के काव्य में यह अंधेरा मुख्यतः आध्यात्मिक स्तर पर है, किन्तु मुक्तिबोध में सामाजिक संदर्भों से अधिक जुड़ा हुआ है। यहाँ यह जान लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि निराला की आस्तिकता उन्हें आलोक की शक्ति का सदा स्मरण कराती रहती है। यही कारण है कि उनके यहाँ अंधकार और आलोक का संघर्ष गहन और तीखा हुआ है “ऐसे क्षण अंधकार घन में विद्युत...” (राम की शक्ति पूजा), लेकिन मुक्तिबोध में आस्था और संशय मिलकर अंधेरे में से झाँकते रहस्य पुरुष की सृष्टि करते हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

“कि इतने में
भयानक बात होती है
हृदय में घोर दुर्घटना
अचानक एक काला स्याह चेहरा प्रकट होता है
विकट हँसता हुआ।
अध्यक्ष वह
मेरी अंधेरी खाइयों में... (‘अन्तःकरण का आयतन’ से)।”

और

“धुसती है लाल-लाल मशाल अजीब सी,
अंतराल विवर के तम में
लाल-लाल कुहरा,
कुहरे में, सामने, रक्तालोक स्नात पुरुष एक,
रहस्य साक्षात्।” (‘अंधेरे में’ से)।

इस प्रकार, रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, “मुक्तिबोध ‘भयानक खबर’ या ‘भयानक बात’ के कवि हैं।” फलस्वरूप, “उनकी रचना हर क्षण बेचैनी और ऐंठन में से निकलती है” ऐसी बेचैनी और ऐंठन में जो बरबस कबीर की याद दिला जाती है, अक्खड़ और फक्कड़ कबीर की; औरों के लिए बेचैन और खुद के लिए कोमल कबीर की। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कवि की बेचैनी और कोमलता किस सीमा तक और कैसे रचना में रूपांतरित होती है। इसका उत्तर ‘अंधेरे में’ शीर्षक कविता है। इस लम्बे काव्य-खंड में कवि की समस्या है समाज के उत्थान-पतन और

आंदोलनों के बीच अपनी रचना के प्रेरक तत्त्वों का अभिज्ञान; अर्थात् रचना कैसे अंदर से बाहर आती है और पुनः कैसे बाहर दूर-दूर तक फैल जाती है। यहाँ रचनाशीलता के प्रति यह ईमानदार वक्तव्य और साक्ष्य देखने योग्य है

“परम अभिव्यक्ति
लगातार धूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वह है।
इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनीतिक परिस्थिति,
प्रत्येक माननीय स्वानुभूत आदर्श,
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति!
खोजता हूँ पठार...पहाड़...समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म सम्भवा!”

इस प्रकार इसमें रचना-शक्ति की खोज अन्दर और बाहर की अन्तःप्रक्रिया में हुई है जिस प्रकार की अन्तःप्रक्रिया में फक्कड़ कबीर के सामाजिक विद्रोह की तीक्ष्णता और ‘साई’ के प्रति प्रणयानुभूति की कोमलता एक साथ साकार हुई मिलती है। ‘अंधेरे में’ का कवि अपने सघन सामाजिक अनुभव की क्रांतिकारी चेतना को केन्द्रीभूत करके प्रणयानुभूति के रूप में इस प्रकार स्मरण करता है

“मानो कि कल रात
किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा
प्रेम कर लिया हो
जीवन भर के लिए।”

यदि निष्कर्ष रूप में, मुक्तिबोध के रचना-विधान के विषय में, कहा जाए तो हम कह सकते हैं कि चाहे उनका काव्य-संकलन ‘चांद का मुँह टेढ़ा है’ अथवा लंबी कविता ‘अंधेरे में’ हो या कि कोई अन्य कविता हो, ऐसा मालूम होता है कि उनका

यह रचना-संसार 'जैसे एक विराट् खंडहर' पूरा नए तौर पर बनाया गया है, जिसमें से गुजरने पर उसकी भव्यता और एक खास तरह के अवसाद का एहसास एकसाथ होता है। (रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ201)।

वस्तुतः मुक्तिबोध की कविता, विशेषकर 'अंधेरे में' शीर्षक कविता छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' के आमने-सामने इस अर्थ में आ खड़ी है कि जिस प्रकार 'आँसू' के अंतिम खंड में प्रसाद की वेदना सार्वभौम हो उठी है, उसी प्रकार 'अंधेरे में' के विराट् विस्तार में परिव्याप्त मुक्तिबोध की वेदना 'लोगों की भीड़ में मिलकर' घुल गई है। नई कविता के भाव-सौंदर्य के संदर्भ में, रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, "कवि (मुक्तिबोध) की अनखोजी रही परम अभिव्यक्ति शक्ति का वह विराट् रूप है जो गुहा से निकलकर भीड़ में मिल जाती है, और जहाँ कविता का अंत होता है, वहीं से कवि की तलाश फिर शुरू हो जाती है।" और कवि 'हर गली में' 'हर सड़क पर' 'हर एक चेहरा' को झाँक-झाँक देखता है कि कहीं वह 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' मिल जाए।" तात्पर्य यह कि कवि मुक्तिबोध उस 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' को समाज की हर टकराहट के बाद 'आत्मसम्भवा' कहते हैं और 'रचना की स्वायत्तता' को उसी रूप में स्वीकारते हैं जिस रूप में अंधकार और आलोक के छायावादी कवि निराला तथा उनके बाद के प्रयोगवादी कवि अज्ञेय अथवा उनके पूर्व के कथाकार प्रेमचंद एवं समालोचक रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं।

आलोचकों ने नई कविता को व्यक्तिवादी कविता कहा है और अपने सृजन के लिए भीड़ को खतरनाक माना है। मुक्तिबोध ने भीड़ को व्याख्यायित करते हुए इसका उत्तर 'एक साहित्यिक की डायरी' में इस प्रकार दिया है "कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि एक स्थान में संगठित एकत्रित जनता भीड़ नहीं है। जहाँ एक प्रेरणा और उद्देश्य है, वहाँ एक स्फीत और सक्रिय चेतना है। देश-विदेश के पिछले इतिहास से हमें यह सूचित होता है कि संगठित जनता ने असाधारण कार्य किये हैं। हमारे कई नये कवियों को समूह से ही डर लगता है। क्यों? इसलिए कि पश्चिमी विचार उन्हें वैसा ही सिखाते हैं।"

मुक्तिबोध अपनी इतिहास-दृष्टि के सहारे राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के उन अन्तर्विरोधों को उजागर करते हैं जिसके फलस्वरूप जनतांत्रिक मूल्यों की हत्या में जीवन के विविध महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में कार्यरत बड़े-बड़े नाम भी शामिल हैंमंत्री भी हैं, उद्योगपति और विद्वान भी, प्रकाण्ड आलोचक हैं, विचारक और जगमगाते कवि भी। जन-जागृति को कुचलने के लिए इतने विधि-विधान, इतनी फौज, इतना व्यापक षड्यंत्र

*"और यह सब तिलकगाँधी के देश में!!
धुंधलके से आकार कहीं-कहीं दीखते।
भय के? या धर के? कह नहीं सकता।"*

और साधारण आदमी आँख मूंदकर बगदूट भागता है। लेकिन भागकर कहाँ जायेगा? चारों तरफ तो अंधेरा है और आततायी सत्ता के हाथ भी लम्बे हैं। ऐसी स्थिति में, सिर्फ आत्म-ज्ञान ही रक्षक हो सकता है

“मानो मेरे कारण ही लग गया
मार्शल लॉ वह
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया
मानो मेरे कारण ही दुर्घट
हुई यह घटना
चक्र से चक्र लगा हुआ है।”

कवि जब देखता है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त लोग आगजनी और गोलीकांड के महज मूक दर्शक हैं तो उनके मोह का दुर्ग भरभरा कर गिर जाता है ‘बौद्धिक वर्ग है क्रीत दास’।

बुद्धिजीवियों की क्रांति में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है और होनी भी चाहिए। लेकिन इसके विपरीत यह वर्ग भी ‘रक्तपायी वर्ग से ‘नाभिनालबद्ध’ है, जिसकी ओर मुक्तिबोध ने ‘अंधेरे में’ कविता में इस तरह संकेत दिया है

“सब चुप, साहित्यिक चुप और जनकवि निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं।
रक्तपायीवर्ग से नाभिनालबद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोगशिराजालों में उलझे।”

मुक्तिबोध की युगचेतना का यह चरम बिन्दु है जहाँ वे सारे लोकतांत्रित पाखण्डों को ध्वस्त करते हुए निर्णायक टिप्पणी करते हैं।

“हम कहाँ नहीं हैं,
सभी जगह हम
अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने की होंगे मठ और गढ़ सब।”

और परिणाम यह होता है कि निहत्थी जनता खुली लड़ाई के लिए सड़क पर उतर आती है

“एक-एक वस्तु या एक-एक प्राणाग्नि-बम है,
ये परमास्त्र हैं, प्रक्षेपास्त्र हैं, यम हैं।
शून्यकाश में से होते हुए वे
अरे, अरि पर टूट पड़े अनिगार

*यह कथा नहीं है, यह सब सच है हाँ भाई!!
कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई!!*

लू शुन की तरह मुक्तिबोध ने भी अपने समय के साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रश्नों को लेकर दर्जनों लेख और टिप्पणियाँ लिखी हैं। जिनमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण की रचना प्रक्रिया से लेकर आलोचना के अन्तर्विरोधों तथा सही आलोचना के मानदंडों का निर्धारण भी किया है। अपने 'समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक लेख में उन्होंने रूपवादी आलोचना-पद्धति को लगभग खारिज ही कर दिया है। मुक्तिबोध का मानना है कि पूर्वाग्रही दृष्टिकोण वाले आलोचक आलोचना की स्वस्थ और सुसंगत परम्परा को ध्वस्त करते हैं और वस्तुतः यह प्रवृत्ति यथार्थवादी परम्परा के मार्ग में बाधक होती है।

मुक्तिबोध के निर्मम आत्मालोचन 'तारसप्तक' में परिलक्षित होता है। मुक्तिबोध के अन्दर का कवि बड़ी शिद्दत से महसूसने लगा था कि आज के वैविध्यपूर्ण और जटिल जीवन की अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण हेतु वैयक्तिक क्षेत्र से बाहर निकलने की आवश्यकता है। 'आत्मवक्तव्य' शीर्षक कविता में खुद को वे आमजनों का हिस्सा मानकर अनाचार अत्याचार के खिलाफ आग सुलगाने का दायित्व लेते हैं

*“सच्चा है जहाँ असन्तोष
वहाँ है मेरा परिपोष”*

मनुष्य की समग्र मुक्ति के स्वप्न दिखाने वाला दर्शन सहस्रों नैसर्गिक सपनों से बेहतर और विशाल लगता है

*“वह ज्ञान लिप्सा क्षितिज सपना।
रे, वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा।
औं अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्भ के द्रुत
आ चलेंगे।”
(खोल आंखें/तार सप्तक)*

इन्सान बने बिना कोई इन्सानियत की दुनिया रचने में सार्थक योगदान कर सकता हैइसमें संदेह है। अतः मुक्तिबोध पहले खुद को बदलने पर जोर देते हैं“जीवन मूल्य उनके स्रष्टा से संगति की अपेक्षा रखते हैं। यदि वह अपेक्षा भंग हुई तो साहित्य और समाज में उचित परम्परा का विकास नहीं हो सकता।” वस्तुतः भव्य स्वप्न भव्य प्रेरणा से और भव्य प्रेरणाएं जीवन कर्म से जुड़ी होती हैं। इस दृष्टि से 'विपात्र' में उनके आत्मचरित्रात्मक अंश द्रष्टव्य हैं

“जब मैं बीस साल का था, नौजवान था, मैंने शादी कर ली। आज सात बच्चों का बाप हूँ। उनकी परवरिश करना भी मुश्किल है। अपने बुढ़ापे में यह नौकरी मिली

है। अब यहाँ से कहाँ जाऊँ? हर चीज मेरे लिए लायबलिटी है परिवार, परिस्थिति और विचार सभीकोई मेरी उन्नति में योग नहीं देती। लेकिन मुझे उनकी चिन्ता है। अंधेरे में रहकर अंधेरे में मर जाना ठीक समझता हूँ, लेकिन फटीचरों से घृणा नहीं करना चाहता। चाहता हूँ कि मेरे हाथ से कोई अच्छा सा काम हो जाए तो मर पाऊँ।

मुक्तिबोध सजग और सहज संवेदनशील लेखक और कवि तो थे ही, उनकी राजनीतिक चेतना और दृष्टि भी बेहद प्रखर थी। उनकी प्रतिबद्ध संवेदना का परिचय उनके इस विचार से मिलता है “जनता के उद्धार में श्रद्धा, उनके संघर्षों की सफलता में आध्यात्मिक विश्वास, जनता की सृजनशील ऐतिहासिक शक्तियों की विजय का स्वप्न, अपने अनुभवों से, दूसरों के तजुर्वों से हमेशा सीखते रहने का जागरूक प्रयास और बेखटके और बेशरमाये अपनी गलतियों को सबके सामने स्वीकार करने की नम्र महानता साहसपूर्ण और निश्चयात्मक कदम उठाने की योग्यता तथा व्यक्तिगत जीवन का संगठन आदि-आदि बातें आवश्यक हैं।”

इस तरह हम देखते हैं कि काफ़का के संसार से कम भयावह नहीं है मुक्तिबोध का संसार। लेकिन दोनों में एक बुनियादी अंतर है। अपने ही विरुद्ध षड्यंत्र में शामिल व्यक्ति की मजबूरी को समझाते हुए भी मुक्तिबोध मौका मिलते ही उससे बेहिचक सवाल करते हैं “आपने अपनी आत्मा बेची है या इन्सानियत भी। इन्सानियत का मतलब है इन्सान के लिए लड़ना और आप लड़ने से डरते हैं,” (एक दाखिल दफ़्तर साँझ)।

मुक्तिबोध की प्रासंगिकता का एहसास समय बीतने के साथ गहराता जा रहा है। काल अपना फैसला सुना चुका है। मुक्तिबोध युग-युगान्तर तक जिन्दा रहेंगे।

“आत्म विस्तार यह
बेकार नहीं जायेगा
जमीन में गड़े हुए खाँक से
शरीर की मिट्टी से, धूल से
खिलेंगे गुलाबी फूल
सही है कि हम पहचानने नहीं जायेंगे
दुनिया में नाम कमाने के लिए
कभी कोई फूल नहीं खिलता है
हृदयानुभवागअरुण
गुलाबी फूल, प्रकृति गंध कोष
काश हम बन सकें।”

इस तरह, मुक्तिबोध का सम्पूर्ण साहित्य उनके आत्मसंघर्ष के साथ-साथ ईमानदार लेखन व चिन्तन का प्रामाणिक दस्तावेज है जो आने वाले युग को चेतना प्रदान करता रहेगा और इतिहास को नई रोशनी देने में सार्थक सिद्ध होगा।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक दृष्टि

□ डॉ. कविता सुरभि*

मानव प्रयत्नों और परिवेश की प्रतिक्रियाओं की अटूट परंपरा इतिहास है, “वह एक अखंड धारा के समान है जिसके प्रवाह में कालान्तर में संस्कृतियों के अनावश्यक मृत तत्त्व नष्ट होते रहते हैं और आवश्यक, उपयोगी और जीवन तत्त्व प्रवाहित होते रहते हैं। इस प्रकार इतिहास सामाजिक जीवन धारा का प्रवाह है जो व्यक्ति को समष्टि में डुबोता रहता है।”¹ साहित्य के इतिहास में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की धारणा है कि वह ग्रंथों और ग्रंथकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है, “इतिहास कालघात में बहते हुए जीवत समाज की विकास कथा है, ग्रंथकार और ग्रंथ उस प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं, सिर्फ वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने-आप को प्रकाशित कर रही है, साहित्य के इतिहास में हम अपने-आप को ही पढ़ने का सूत्र पाते हैं।”²

वस्तुतः तो हजारी प्रसाद द्विवेदी जी तक पहुंचते-पहुंचते हिंदी भाषा के इतिहासलेखन की अनेक प्रक्रियाएं सम्पन्न हो चुकी थीं, “गार्सद तासी और शिवसिंह सेंगर जैसे विद्वानों ने मुख्यतः सामग्री संकलित की तो जार्ज ग्रियर्सन एवं मिश्र बंधुओं ने उस सामग्री को व्यवस्थित एवं वर्गीकृत करने का कार्य किया तथा आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण एवं सम्यक् मूल्यांकन का कार्य संपन्न किया।”³ हिन्दी साहित्य के इतिहास के रूप को सुधारने और संवारने में डॉ. श्याम सुंदर दास, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. भगीरथ प्रसाद मिश्र, डॉ. लक्ष्मी सागर वाष्णेय, डॉ. कृष्ण लाल प्रभृति विद्वानों ने उल्लेखनीय योगदान दिया है।

हिन्दी साहित्येतिहासलेखन क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान उनका नवीन दृष्टिकोण है। उन्होंने इतिहास संबंधी मान्यता और विचारधारा को ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’, ‘कबीर’, ‘हिंदी साहित्य का आदिकाल’, ‘नाथसंप्रदाय’,

* डॉ. कवितासुरभि, 94, करिश्मा अपार्टमेंट, प्लॉट नं.27, आई. पी. एक्सटेंशन, पटपड़गंज, दिल्ली110092; मोबाइल : 9958867584

‘मध्यकालीन धर्मसाधना’ ‘सूरसाहित्य’ द्वारा स्वरूप प्रदान किया है। द्विवेदी जी का दृष्टिकोण साहित्य के पूर्ववर्ती इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न है। उनसे पूर्व साहित्येतिहास की विभिन्न काव्य-धाराओं एवं काव्य-प्रवृत्तियों के मूल उत्सों तथा उद्गम स्रोतों की व्याख्या नहीं हुई थी। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्निर्माण का कार्य उन्होंने संपन्न किया। विभिन्न काव्य-धाराओं के उद्भव एवं विकास के संबंध में अनेक भ्रांतियां प्रचलित थीं। उन्होंने उनका निराकरण किया। विशिष्ट बात यह है कि पूर्ववर्ती परंपराओं की उन्होंने उपेक्षा नहीं की। पूर्ववर्ती इतिहासकार तत्कालीन वातावरण पर ही ध्यान देते थे। विभिन्न काव्य-धाराओं के विकास पर विचार करते समय पूर्ववर्ती परंपराओं एवं तत्कालीन युग की चेतना के आधार पर उन्होंने प्राचीन काव्य का सम्यक् मूल्यांकन किया तथा तत्संबंधी नए तथ्यों का निदर्शन किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को भारतवर्ष के आधे हिस्से की सहस्रवर्षव्यापी आशाआकांक्षाओं का मूर्तिमान प्रतीक माना है जिसके जन्म के साथ-ही-साथ भारतीय इतिहास में इस्लाम के प्रवेश की राजनीतिक और धार्मिक घटना हो गई। द्विवेदी जी ने इस बात को दुर्भाग्यपूर्ण माना है कि हिन्दी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया, उन्होंने हिन्दी साहित्य को हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति मानकर, उसे एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक माना। इस बात का प्रतिवाद करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य को इस्लाम-प्रवेश की प्रतिक्रिया या हारी हुई जाति की कुण्ठा के रूप में न देखकर उसे पूर्ववर्ती परंपराओं के सहज विकसित रूप में देखा, “मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं पा रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।”⁴ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने ईसा की पहली शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया और हिंदी साहित्य को भारतीय साहित्य परंपरा का स्वाभाविक विकास और लोक-चेतना का प्रतीक माना।

द्विवेदी जी का मानना है, भारतीय संस्कृति को निरंतर समृद्ध किया हैमानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक चेतना के विराट् अस्तित्व ने⁵ और यह मुसलमानी धर्म के आक्रमण से अप्रभावित रहा है।⁶

हिंदू धर्म का मेरुदंड कहा जाने वाला पौराणिक धर्म वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पवित्र्याभिमानी रहा है। महाभारत और रामायण लोक जीवन से प्रत्यक्ष भाव से जड़ित थे। द्विवेदी जी ने भारतीय चिंता की समृद्धि में भारतीय साहित्य के महान उपजीव्य महाभारत, रामायण, पुराणों, बौद्ध तथा जैन साहित्य के योगदान को स्वीकार किया है। इन ग्रंथों के अध्ययन से भारतीय धर्म-साधनाओं का परिचय मिलता है तथा हिंदी के भक्ति साहित्य को हम और

अधिक स्पष्टता से आत्मसात कर पाते हैं। नेपाल में इस समय वर्तमान बौद्ध धर्म के बारे में द्विवेदी जी का मानना है कि वह वस्तुतः नाथपंथी योगियों का वही संप्रदाय है जो शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से उठ खड़ा हुआ था और हिन्दी भाषी जनसमुदाय को जिसने बहुत दूर तक प्रभावित किया था। कबीर, सूर और जायसी की रचनाओं से द्विवेदी जी ने इस संप्रदाय के प्रभावशाली रूप को प्रमाणित किया है।

पूर्ववर्ती धर्म-सम्प्रदाय और साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने सहस्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखा। बौद्ध धर्म के इस देश से निर्वासन को उन्होंने आचार्यगण की प्रतिभा और अनुपम विद्वत्ता को माना है। वे दार्शनिक पंडित थे और तत्त्ववाद के कायल थे। किंतु साधारण जनता का संबंध तत्त्ववाद से नहीं, भक्तिवाद से था।⁷ यही कारण था, बौद्ध धर्म महायान संप्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित हुआ जिसका दावा रहा कि वे नीचे-ऊंचे छोटे-बड़े सबको अपनी विशाल गाड़ी में बैठाकर निर्वाण तक पहुंचा सकते हैं।

द्विवेदी जी ने लोक-चिंता को मतों, आचार्यों, संप्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदण्ड से नहीं मापना चाहा, बल्कि लोक-चिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश की। महायान ने केवल यह नहीं कहा कि सब कुछ छोड़कर चले जाओ, बल्कि यह सलाह दिया कि सब कुछ लिए हुए भी तुम परमपद तक पहुंच सकते हो। अपनी इस महत् आकांक्षा और लक्ष्य की विराट्ता के कारण ही हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पंडितों के ऊंचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे, “महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहां तक कि अंत में जाकर लोक मत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी संप्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई संपर्क नहीं है।”⁸ मध्यकालीन भक्ति के विषय में निष्कर्ष रूप में अपना मत व्यक्त करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, “असल में यह कहीं बाहर से आई हुई चीज नहीं है, भारतीय साधना की जीवंत-शक्ति के रूप में यह धारा नाना युग में नाना रूप में प्रकट हुई थी। मध्ययुग के वैष्णव धर्म ने इसे जो रूप दिया, वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था।”⁹

बौद्ध पण्डित की भांति स्मार्त पण्डित भी लोकमत की ओर झुके। स्मार्त और बौद्ध दोनों ही हिंदी साहित्य के जन्म-काल के समय लोकमत का प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे।...द्विवेदी जी ने इसे विदेशी शासन की प्रतिक्रिया नहीं माना। लोकभाषा की ओर झुकाव भी स्वाभाविक रूप से ही हो चला था, किसी बाहरी शक्ति के कारण नहीं, “हिंदू राजाओं के दरबार में संस्कृत कवियों का मान था, पर साथ ही प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों को भी स्थान मिलने लगा।...भारतीय पंडित ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक

गया था; यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी।¹⁰ इस प्रकार साहित्येतिहास को द्विवेदी जी ने 'निरंतर प्रवहमान जीवित मानव समाज की विकास कथा' के रूप में देखा है। हिन्दी साहित्य की स्वाभाविक व्याख्या एवं उसके सम्यक् मूल्यांकन के लिए द्विवेदी जी का यह दृष्टिकोण नया ही नहीं, स्वस्थ और वैज्ञानिक भी था।

हिन्दी साहित्येतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना माना जाता है; किंतु हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने काव्य-धाराओं के उद्गम-स्रोतों पर विचार किया तो पूर्ववर्ती भाषा के साहित्य का अध्ययन भी उन्हें अपेक्षित जान पड़ा। आदिकाल का मूल्यांकन करते समय उन्होंने उसके पूर्व की बौद्ध, जैन साधनाओं, नाथ संप्रदाय, शक्ति-साधना तथा उनको प्रेरणा देने वाले उपनिषद, पुराण आदि ग्रंथों तथा विभिन्न दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया है तथा सभी में एक सनातन ज्ञान परंपरा पायी है। भक्तिकाल की अनेक काव्य-धाराओं को उन्होंने वैदिक युग से लेकर दसवीं शती तक के भारतीय साहित्य की अनेक दीर्घ परंपराओं के प्रभाव से ओत-प्रोत पाया।

पूर्ववर्ती विद्वानों ने अपभ्रंश और लोकभाषाओं के साहित्य को हिंदू राज्यकाल में सर्वथा उपेक्षित घोषित किया। उनके अनुसार, मुसलमानों के आगमन से लोक-भाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा सम्यक रूप से हुई। आचार्य द्विवेदी जी के सबल तर्क ने पूर्ववर्ती विद्वानों की इस धारणा का निराकरण किया¹¹, "लोकभाषा का साहित्य हमेशा वर्तमान था।...इस काल में अपभ्रंशी कवियों का सम्मान भी राजदरबार में होता था। राजा लोग इन कवियों को अपने दरबार में रखना उतना ही आवश्यक समझते थे, जितना संस्कृत भाषा के कवियों और पण्डितों को।"¹² अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने राजशेखर और भोज के ग्रंथों से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। राजशेखर के वक्तव्य से उन्होंने स्पष्ट किया है कि अपभ्रंश की कविता राजसमादृत होती थी, "संस्कृत का आदर इस देश में हमेशा से ही रहा है, पर यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानों के आगमन से पहले अपभ्रंश या लोकभाषा का स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था। मुसलमानी शासन के प्रभाव से अवस्था चाहे कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंश की कविताएं संस्कृति के समान ही आदर पाती थीं। कबीर ने जो कहा था कि 'संस्कृत कूप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।' वह मुसलमानी प्रभाव के कारण नहीं। ठीक इसी प्रकार की उक्ति बहुत-बहुत पहले कही जा चुकी थी।"¹³ आचार्य द्विवेदी जी की धारणा है कि शायद ही कोई उल्लेखयोग्य भाषा संस्कृत का अलंकारशास्त्री हो जिसने संस्कृत की कविताओं के साथ ही साथ प्राकृत और तत्काल प्रचलित लोकभाषाओं की कविताओं का विवेचन न किया हो। संस्कृत के उत्साहशील प्रचारक राजा भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण'

ग्रंथ में भी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की कविताएं समान भाव से उद्धृत की गई हैं।¹⁴ राजा भोज या उनके पूर्ववर्ती राजा इन कविताओं का केवल सम्मान ही नहीं करते थे, वे स्वयं भी उनमें कविता लिखते थे।¹⁵

आचार्य द्विवेदी जी ने अपने पुष्ट प्रमाण से पूर्ववर्ती विद्वानों की इस धारणा को भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध किया कि आदिकाल और भक्तिकाल की विभिन्न काव्य-धाराएं मुसलमानी प्रभाव से विकसित धाराएं हैं। युगों की काव्य-धाराओं को उन्होंने अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास माना है। आधुनिक युग आरंभ होने से पहले हिन्दी कविता को उन्होंने प्रधानतः छः अंगों में विभाजित किया है

1. डिंगल कवियों की वीर-गाथाएं।
2. निर्गुणियां संतों की वाणियां।
3. कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्ग के साधकों के पद।
4. राम-भक्त या वैधी भक्तिमार्ग के उपासकों की कविताएं।
5. सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के रोमांस और रीतिकाव्य।
6. ऐतिहासिक हिंदू कवियों के रोमांस और रीतिकाव्य।

काव्य-धारा के इन छः अंगों को उन्होंने अपभ्रंश काव्य से ही विकसित सिद्ध किया है। इतिहासकारों ने हिंदी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंग भक्ति साहित्य को माना है तथा उसे मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया माना है; साथ ही कभी-कभी यह बताने का प्रयत्न किया है कि निर्गुणियां संतों की जाति-पाति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खंडन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है।¹⁶ विद्वान डॉ. ग्रियर्सन ने भक्ति की इस चेतना को ईसाइयत का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे पराजित हिंदुओं की निराशा का परिणाम कहा। प्रोफेसर हेवेल ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल' में लिखा है कि "मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिंदू राज-काज से अलग कर दिए गए। इसलिए दुनिया के झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।"

इन सब मतों को भ्रममूलक बताते हुए द्विवेदी जी ने इनका खंडन किया। उनका मानना है कि भारतीय चिंतन स्वभावतः ही इस ओर अग्रसर होती गई है। जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना लिखा है, उसे द्विवेदी जी ने वैसा नहीं माना, "उसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखंड इकट्ठे हो रहे थे। उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया। उसका कारण था, शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से इनका योग होना। ये शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे।"¹⁷ तुलसीदास में अपने को पतित समझकर भगवान को सर्वात्मना समर्पण कर देने की भावना मध्ययुग के तमाम भक्तों की अपेक्षा अधिक है। यूरोपियन पंडितों का अनुभव है कि यह बात ईसाई धर्म का अप्रत्यक्ष प्रभाव है। द्विवेदी जी ने तुलसीदास

के इस भाव को भागवत धर्म में मूल रूप से वर्तमान माना है।¹⁸ भक्तिकाल के उद्भव को उन्होंने ईसाई मत के प्रभाव स्वरूप मानने के तर्क को अस्वीकार कर इस संबंध में प्रस्तुत किए जाने वाले तथ्य 'जीवदया', 'मानव प्रेम' तथा 'करुणा' आदि भावों का स्रोत बौद्ध, जैन दर्शन से निसृत माना। निर्गुण मतवादी संतों के उग्र विचार तो आचार्य द्विवेदी जी ने भारतीय माने ही हैं, साथ ही उनकी समस्या रीति-नीति, साधना वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छंद और भाषा को भी उन्होंने पुराने भारतीय आचार्यों की देन कहा है।¹⁹ एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसके प्रभाव पड़ने को उन्होंने स्वाभाविक कहा; किंतु साथ ही स्पष्ट किया कि विभिन्न भारतीय धर्मवैदिकअवैदिक, आर्यआर्यतर, विभिन्न मतों, संप्रदायों, नाथों, सिद्धों, महायान तथा वैष्णव भक्ति आदि का सार तत्त्व शास्त्रीयता से मुक्त होकर लोकधर्म के रूप में परिवर्तित हो गया जिसका स्फोट भक्ति काव्य में दिखलाई पड़ा।

द्विवेदी जी ने भक्तिकाव्य की मूल चेतना का अनुसंधान किया और वैष्णव धर्म में शास्त्रीय तत्त्वों की अपेक्षा लोक तत्त्वों का आधिक्य बताया और उसकी सदीर्घ परंपरा की ओर संकेत किया। उनके अनुसार, भक्ति की चेतना दक्षिण के परंपरागत वैष्णव मतवाद से संबंधित है।²⁰ दक्षिण के वैष्णव मतवाद को उन्होंने भक्ति-आंदोलन का मूल प्रेरक माना है। द्विवेदी जी ने इसे और भी लक्ष्य करने की बात बताई कि यद्यपि वैष्णव मतवाद उत्तर भारत में दक्षिण की ओर से आया, पर उसमें भावावेश-मूलक साधना पूर्वी प्रदेशों से आयी। हिंदी साहित्य में दो भिन्न-भिन्न जाति की रचनाएं दो भिन्न-भिन्न मूलों से आयीं, "पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परंपराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे।"²¹ इस प्रकार आचार्य जी ने स्पष्ट किया कि रूढ़ियों और परंपराओं के अस्वीकार का कारण विदेशी प्रभाव नहीं है। द्विवेदी जी के अनुसार समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िपिप्रता, कर्मनिष्ठा के साथ ही साथ पूर्वी आर्यों की भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम-निष्ठा का मणि-कांचन योग हुआ है। जो चार प्रबल संप्रदायोंरामानुजाचार्य का श्री संप्रदाय, मध्वाचार्य का ब्रह्म संप्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र संप्रदाय और निम्बार्काचार्य का सनकादिसंप्रदाय...संपूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदल देने में समर्थ हुए, वह भी प्राचीन धर्म का आश्रय लेकर ही चला है। इसीलिए संत मत और संत साहित्य का संबंध आचार्य द्विवेदी जी ने भारतीय परंपरा से स्थापित किया।²² भक्ति को उन्होंने किसी आकस्मिक घटना के कारण प्रस्फुटित नहीं माना, वरन् अनेक मतों, संप्रदायों, विचारों के तत्त्व उसमें बताए, "यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए, तो मालूम होगा कि यह संपूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों

के पदादि से उसका सीधा संबंध है।²³ पूर्ववर्ती सिद्धों के पद, राग-रागिनियों, दोहों, चौपाइयों आदि वाणियों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने सिद्ध किया कि संतों की प्रवृत्तियां सिद्धों में भी थीं। उनके तर्क सबल और प्रमाण पुष्ट हैं जो पूर्ववर्ती विद्वानों की इस धारणा को भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध करते हैं कि संत मत और संत साहित्य इस्लाम से प्रेरित है। भाव, भाषा, अलंकार, छंद, खंडन-मंडन की पद्धति आदि सभी के आधार पर उन्होंने इसे पूर्ववर्ती सिद्धों तथा नाथ-पंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप माना। द्विवेदी जी के अनुसार, “मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती काल में न हो गया हो।²⁴ भक्ति को प्राचीन भारत की धर्म-साधनाओं की परंपरा से जोड़कर द्विवेदी जी ने ग्रियर्सन की इस धारणा को अमान्य किया कि मध्यकाल की यह भक्ति-भावना ‘बिजली की चमक के समान अचानक कौंध’ कर प्रकट हुई थी।

इस प्रभाव को मुसलमानी प्रभाव की धारणा का उन्होंने निराकरण किया तथा इन काव्य-धाराओं के उद्भव की नई व्याख्या प्रस्तुत की।

इसी प्रकार पूर्ववर्ती विद्वानों की धारणाओं के आधार पर सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों को उन्होंने फारसी मसनवियों की अनुकृतियों के रूप में स्वीकार नहीं किया। आचार्य शुक्ल कबीर के काव्य में ‘प्रेम की मदिरा’ आदि शब्दों के प्रयोग को देखकर उन पर सूफी दर्शन का प्रभाव मानते हैं; किंतु द्विवेदी ने बौद्ध धर्म की सहजयान शाखा से उसका सूत्र जोड़ा, “सहजयान में मदिरा का प्रचलन भी खूब हो चला था। सिद्ध लोग भी एक प्रकार की मदिरा की चर्चा करते हैं, जिसका स्वर हू-ब-हू कबीर जैसा होता है।...ऐसे पदों में कबीरदास प्रायः अवधू या अवधूत को संबोधन करते हैं।²⁵ इस संबोधन को द्विवेदी जी ने सिद्धों, नाथों, यागियों के पदों में सिद्ध किया है। “द्विवेदी जी ने इस बात को भी नितान्त भ्रमजन्य माना है कि पद्मावत आदि में दोहे और चौपाइयों में प्रबंध काव्य लिखने की जो प्रथा है वह सूफी कवियों का अपना आविष्कार है। उनके अनुसार, “सहजयान के सिद्धों में से सरहपाद और कृष्णाचार्य के ग्रंथों में दो-दो, चार-चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है।...इस प्रकार यह पद्धति अर्थात् कड़वक के बाद छेदात्मक उल्लाला या कब्ब छंद देकर धारावाहिक रूप से प्रबंध-लिखना सूफी कवियों की ईजाद नहीं है। अधिकांश कवियों के काव्य का मूल आधार भारतीय लोककथाएं हैं।²⁶

आचार्य द्विवेदी जी ने पूर्ववर्ती विद्वानों की इस धारणा को भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध किया कि संत मत और संत साहित्य इस्लाम से प्रेरित है। इन प्रबंध-काव्यों की प्रतिपादन-शैली एवं इनकी कथानक रूढ़ियों की सूक्ष्म छान-बीन करते हुए उन्होंने प्रमाणित किया है कि ये आख्यान भी भारतीय साहित्य की परंपरा से सर्वथा अविच्छिन्न नहीं है।

इस प्रकार हिंदी काव्य के आदिकालीन और भक्तिकालीन साहित्य के उद्भव के संबंध में पूर्ववर्ती विद्वानों की धारणाओं का निराकरण करते हुए प्रचलित मतों का उन्होंने खंडन किया तथा अपनी नई स्थापनाएं प्रस्तुत कीं।

विद्वानों ने आचार्य द्विवेदी को प्राचीन हिन्दी काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समीक्षक सिद्ध किया है क्योंकि उन्होंने प्राचीन युग के सांस्कृतिक वातावरण, उस युग की लोक-चेतना और मनोवृत्तियों को भली-भांति समझने के बाद सम्यक् रूप से उसे समझाया है। ऐसी स्थिति में प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन, परंपरा के मूल उत्सों और उनके प्रेरणा स्रोतों को खोजकर जब वे उनके विकास को स्पष्ट करते हैं तो उस साहित्य के साथ न्याय कर पाते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से पूर्ववर्ती विद्वानों ने हिन्दी के प्रारंभिक काल की कृतियों को असाहित्यिक एवं सांप्रदायिक ग्रंथ घोषित किया है।²⁷ द्विवेदी जी की सफलता इसमें है कि उन्होंने इन ग्रंथों को पुनः साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया है।

अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती तथा मैथिल साहित्य में हिंदी काव्य रूपों की परंपरा की खोज कर द्विवेदी जी ने उसे निरंतर प्रवाहित चिंतनधारा से सूत्रबद्ध किया तथा धार्मिक रचनाएं कहकर शुक्ल जी द्वारा साहित्य से अलग की गई जैन, अपभ्रंश रचनाओं की सरसता और काव्यतत्त्व की प्रशंसा करते हुए उन्हें स्वीकृति दी।²⁸ द्विवेदी जी को शुक्लजी की यह बात उचित नहीं मालूम देती कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होने को उन्होंने काव्यत्व का बाधक मान लिया। शुक्ल जी की मान्यता है कि लौकिक प्रेम कथानकों के माध्यम से धर्मोपदेश का कार्य सूफियों ने आरंभ किया। द्विवेदी जी उनकी इस बात से सहमत नहीं होते। वे इसे भारतीय संतों की परंपरा मानते हैं, “हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियादी बात चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रय करके धर्म भावनाओं को उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरंभ किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय संतों की यह परंपरा परमहंस रामकृष्ण तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है।”²⁹

द्विवेदी जी इन कृतियों को काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं करते। इस काल को रूप और गति देने वाली शक्ति उन्होंने धर्म-भावना ही मानी है, “इन धर्म-ग्रंथों के आवरण में सुंदर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्य-रूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।”³⁰

हिन्दी साहित्य के परवर्ती काव्यरूप के अध्ययन की दृष्टि से जैन ग्रंथों को बहुत सहायक माना गया है। बौद्ध तत्त्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की चिंता की देना था, मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है, जिसे ‘संत-साहित्य’ नाम दिया गया है, “कवीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की

वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए, तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपन्थी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है।”³¹ अपभ्रंश की कई रचनाएं मूलतः जैन-धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं जो निस्संदेह उत्तम काव्य हैं। जैन कवियों की विशिष्टता है कि उन्होंने धर्म संबंधी अनुभूतियों के साथ-साथ प्रेम, करुणा, शौर्य जैसे लौकिक भावों और सांसारिक प्रसंगों का निरूपण उत्कृष्ट काव्यात्मक शैली में किया है। ‘मध्यकालीन बोध का स्वरूप’ में हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य और चिंतन का सामयिक परिस्थितियों के साथ मूल्यांकन करते हुए द्विवेदी जी ने कहा कि वाल्मीकि और कालिदास से संपुष्ट होती आई इस रस-धारा से ही धर्म, दर्शन और कला का प्रादुर्भाव हुआ है। आचार्य द्विवेदी जी की स्पष्ट धारणा है कि यदि इस साहित्य को साहित्यिक क्षेत्र से पृथक् किया जाएगा, तो फिर भक्तिकाल का सारा साहित्य असाहित्यिक माना जाएगा, “जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो। इन रचनाओं ने जितनी दूर तक मनुष्य चित्त को रुढ़ि के विचार से मुक्त करके सहज सत्य तक पहुंचाने में सहायता की है, उतनी दूर तक वे सच्चे साहित्य के अन्तर्गत गिनी जाने योग्य है।...इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएं साहित्य में विवेच्य नहीं है। कभी-कभी शुक्ल जी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती।”³²

संतों के द्वारा प्रयुक्त शब्दावलियों को देखकर एक ओर कुछ विद्वानों ने उन्हें कृच्छ साधना में प्रवृत्त नाथ-पंथी योगियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया तो दूसरी ओर कुछ लोगों ने उन्हें ज्ञानमार्गी मानकर उनकी काव्य-धारा को ‘ज्ञानाश्रयी शाखा’ कहा।³³ द्विवेदी जी ने इन दोनों बातों को भ्रामक कहा, “जिन पंडितों ने इन संतों को ज्ञानाश्रयी कहा है, वे सचमुच इस चक्कर में पड़ गए हैं और तात्त्विक दृष्टि से विचार करके यह कहने को बाध्य हुए हैं कि ‘न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी’ (पं. रामचंद्र शुक्ल)। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये साधक अपने विचारों से स्पष्ट नहीं थे।”³⁴ कबीर के प्रति कही गई सभी उक्तियों, स्थापनाओं से अलग उनकी अक्खड़ता, फक्कड़पन, सहजता और प्रेम की मस्ती में उन्होंने सामाजिक मंगलाकांक्षा का प्राधान्य माना। शुक्ल जी की समीक्षा का नव-विकास द्विवेदी जी के चिंतन में है।

कबीर आदि ने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण की थीं, किंतु योगियों और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या उन्होंने अपने ढंग पर की, “जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम ‘दशरथसुत’ नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षड्चक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियों

के इन्हीं शब्दों से भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी।...दैनिक जीवन और शाश्वत साधन का जो अविरोध भाव है, वही कबीर का 'सहज पंथ' है। यह सहज पंथ 'सहजयान' नामक संप्रदाय-विशेष से एकदम भिन्न है। इसी तरह शून्य शब्द बहुत मनोरंजक है। बौद्ध महायान दार्शनिकों की एक शाखा ने संसार में सब-कुछ शून्य माना है और दूसरी शाखा ने इसे विज्ञानवाद से जोड़ा है। जब कबीर 'शून्य' शब्द का व्यवहार करते हैं तो 'कुछ नहीं' के अर्थ में कभी नहीं करते। दादू का शून्य 'पूर्ण-सरोवर', 'आत्म-सरोवर' और 'हरि-सरोवर' है।³⁵ शास्त्र ज्ञान से वंचित इन संतों को द्विवेदी जी ने बहुश्रुत माना है जो अनुभव-सम्मत सत्य का संग्रह कर सकते थे। इसलिए द्विवेदी जी मानते हैं कि ये विशुद्ध ज्ञानमार्गी नहीं हैं क्योंकि प्रेम पर इन संतों ने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्त के बिना भगवान को ही अपूर्ण बताया है। यह भावना केवल ज्ञानगम्य ब्रह्म को आश्रय करके नहीं चल सकती।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मन इस बात से बहुत आहत था कि विद्वानों ने इन भक्त कवियों को हास्यास्पद भाव से शास्त्र-ज्ञान-हीन, सुनी-सुनाई बातों का गढ़ने वाला आदि कहा है मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिए और अन्यान्य जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था। द्विवेदी जी ने माना है कि शास्त्रज्ञान, तत्त्वज्ञान का मार्ग सब समय सहायक ही नहीं होता, "कभी-कभी तो उस युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है। इन संस्कारों से वंचित रहने के कारण ही वे सब जगह से सहज सत्य को सहज ही ले सकते थे। वे रूढ़ियों और मिथ्या विश्वास के शिकार नहीं हुए। वे उस बेमतलब की निजत्व बुद्धि के भी शिकार नहीं हुए, जो दूसरों की लिखी हुई बात को तोड़-मरोड़कर कहने में दूसरों से ग्रहण करने के महादोष से अपने को मुक्त समझती है। उनमें ग्रहण करने की भी शक्ति थी और कराने की भी, इसलिए वे महान् थे।"³⁶ अधिकांशतः विद्वानों ने यह माना है कि भक्तिकालीन कवियों की बातें जितनी प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं, उसका उतना प्रभाव इस युग से पहले नहीं था। कुछ लोगों ने इसका कारण राजनीतिक सत्ता को माना है। किसी-किसी ने कहा कि मुसलमान के आगमन के पूर्व हिंदू राजा इन तथाकथित नीच जातियों की आशा-आकांक्षा को पनपने देना नहीं चाहते थे। किसी ने कहा, पहले तो ये छोटी समझी जाने वाली जातियां अकेले हिंदुओं से सतायी जा रही थीं, अब मुसलमानों से सतायी जाने लगीं; इस प्रकार उन्हें अपनी स्थिति को सुधारकर अधिकार प्राप्त करने के नए प्रयत्न करने पड़े।...इन दोनों बातों को द्विवेदी जी ने युक्ति-युक्त नहीं माना। उन्होंने देखा, उत्तरकालीन काव्य-ग्रंथ वैसे नहीं रहे थे।³⁷ उन्होंने प्रतिष्ठापित किया कि "इन साधकों ने सत्य का अनुभव कर पूर्वतर साधकों की बात पर अपनी साक्षी या गवाही दी है इसलिए इनकी बातें इतनी प्रभावशाली सिद्ध हो सकीं। जनसाधारण में

उन्होंने उनकी शास्त्र-सिद्धता का विश्वास पैदा किया।”³⁸ यही कारण था, पहले ये बातें उतनी प्रभावशाली नहीं थीं किंतु शास्त्र और लोक-विश्वास का जरा सा नाम-मात्र का सहारा पाते ही यह मत देश के इस सिरे से उस सिरे तक फैल गया।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने विभिन्न वर्गों के साहित्य की नई व्याख्या करते हुए नए मूल्यांकन के कार्य को आगे बढ़ाया है।

भाषा के स्वाभाविक विकास पर द्विवेदी जी ने प्रकाश डाला है। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का काल, जिसे हिंदी का आदिकाल कहते हैं, द्विवेदी जी ने भाषा की दृष्टि से उसे अपभ्रंश का ही बढ़ावा माना है। संत-काव्य की भाषा को विभिन्न प्रांतीय शब्दों के मिश्रण के कारण ‘सधुक्कड़ी’ कह दिया जाता था। चंद, कबीर, सूरदास आदि की पद-रचना को दृष्टकूट, उलटवांसी या विपर्यय कहा जाता है। नाथपंथी योगियों और सहजयानियों में भी इस प्रकार की उलटवासियां बहुत प्रचलित थीं। सहजयानियों में इस प्रकार की भाषा का नाम संध्या भाषा प्रचलित था। भाषा-शैली के इस स्वरूप के कारण ये कवि साहित्यिक महारथियों के आक्षेप-वाणों के शिकार होते रहे हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने इस युग की भाषा-शैली के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर नया प्रकाश डाला है³⁹ और प्रतिष्ठापित किया है कि इस सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा में अभिव्यंजना की ऐसी सहजता, शक्तिमत्ता तथा प्रभावोत्पादकता विद्यमान है जिसके बल पर उसके प्रयोक्ता को ‘वाणी का डिक्टेटर’ कहा जा सकता है। आचार्य द्विवेदी की इस अवधारणा के पश्चात् प्रायः सभी विद्वानों ने इस भाषा में निहित अभिव्यंजना-शक्ति और उसकी सूक्ष्मता को इस भाषा का सबल पक्ष स्वीकार किया है। गणपतिचंद्र गुप्त जी ने माना है कि हिन्दी के संत काव्य एवं भक्ति के लिए एक ऐसे विद्वान की अपेक्षा थी जो अपनी धर्म-परंपराओं के ज्ञान, संत स्वभाव एवं भक्त हृदय के बल पर भक्तियुगीन साहित्य के रचयिताओं के हृदय से तादात्म्य स्थापित करता हुआ उनके मन की बात हमें बता सके। आचार्य द्विवेदी जी को उन्होंने ऐसा ही विद्वान माना है जिन्होंने प्रारंभिक लोक-भाषा के साहित्य की पृष्ठभूमि, उसके प्रेरणा-स्रोतों एवं उसके अन्तर्निहित साहित्यिक तत्त्वों का उद्घाटन स्पष्ट रूप से किया है तथा साथ ही नाथ-पंथी योगियों की साधना-पद्धति, संतों की अनुभूति एवं भक्त कवियों की भक्ति-भावना का भी नूतन ढंग से विवेचन-विश्लेषण किया है। नामवरसिंह जी ने परंपरा और इतिहासबोध को आचार्य की ‘समूची साधना का ‘क्रेद बिंदु’ कहा है। उनके अनुसार, “साहित्यकार की गहराई इस बात में है कि वह सतह को तोड़ता है और इस तरह वह भ्रमों को हटाकर वास्तविकता का सही रूप उद्घाटित करता है।”⁴⁰ इतिहास को जीवंत गति का पर्याय मानकर आचार्य द्विवेदी ने कहा है, “हमारे साहित्य का इतिहास तभी पूर्ण कहा जाएगा, जब हमें उसके पढ़ने के बाद चिंतनधारा और उसकी जीवंत गति का प्रत्यक्ष दर्शन हो।”⁴¹ यह दृष्टि उनके इतिहास लेखन में सर्वत्र देखी जा सकती है। आदिकालीन साहित्य की सूक्ष्म विशेषताओं एवं मध्यकाल

की विभिन्न काव्य-धाराओं के विभिन्न पक्षों पर उनसे संबंधित धर्म-संप्रदायों, उनके प्रेरक पूर्ववर्ती ग्रंथों, उनकी साधना-पद्धतियों, उनकी भाव-भूमियों एवं उनकी अभिव्यंजना-शैलियों का जितनी गहराई से आचार्य द्विवेदी जी ने विचार किया है तथा जितनी स्पष्टता से वे उसे समझ एवं समझा सके हैं, वह अपूर्व है।⁴²

संदर्भ

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्यइंद्रनाथ मदान, पृ.36
2. कल्पलता, पृ.174
3. इतिहासकार के रूप में आचार्य द्विवेदी का योगदान : लेखडॉ. गणपति चंद्र गुप्त; पुस्तकआचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य इंद्रनाथ मदान।
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.34
5. “हिंदीभाषी क्षेत्र चौमुखी प्रकृति और संस्कृति से घिरा है जिसके कारण उसे निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा, “एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष ने और दूसरी तरफ रक्षणशीलता और श्रेष्ठत्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में इन दो बातों को बद्धमूल कर दिया हैएक अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, संप्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना।” हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ34
6. “दो हजार वर्ष पहले से लेकर हजार वर्ष पहले तक के हजार वर्षों में जो ग्रंथ (मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियां, सूर्यादि पांचों सिद्धांत ग्रंथ, चरक और सुश्रुत की संहिताएं, न्यायादि छहों दर्शनसूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण और महाभारत के वर्तमान रूप, नाट्यशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य) लिखे गए, उनकी प्रामाणिकता में बाद में चलकर कभी कोई संदेह नहीं किया गया।” इन प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रंथों की रचना, संकलन या रूपप्राप्ति आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने सन् ईसवी के दोढाई सौ वर्ष इधर-उधर की ही मानी है, “उसके बाद की चारपांच शताब्दियों तक इन ग्रंथों के निर्दिष्ट आदर्श का बहुत प्रचार होता रहा।” इसी प्रचारकाल में उन्होंने संस्कृत साहित्य के अनमोल रत्नों का प्रादुर्भाव माना है, “अश्वघोष, कालिदास, भद्रबाहु, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, शंकर, दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने इन शताब्दियों में उत्पन्न होकर भारतीय विचारधारा को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया।”
वही, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.34
7. वही, पृ.36
8. वही, पृ.38।

9. मध्यकालीन धर्मसाधना, ग्रंथावली5, पृ.432
10. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.44
11. हिंदी साहित्य के जन्म के बहुत पहले अपभ्रंश या लोकभाषा में कविता होने लगी थी। कई लोग इस बात में संदेह प्रकट करते हैं कि हिंदुओं के राजत्व-काल में उसे कोई प्रोत्साहन भी मिलता था। ऐसे लोगों का भ्रम बहुत ही निराधार युक्तियों पर अवलंबित है।
वही, पृ.44
12. वही, पृ.51
13. वही
14. वही, पृ.52
15. महाराज भोज ने अपभ्रंश से मिलती हुई प्राकृत भाषा की कविता लिखी थी और उसे बड़े आदर के साथ अपनी भोजशाला में खुदवा के जड़ा था। यह भोजशाला आजकल धार की कमाल मौला की मस्जिद के नाम से मशहूर है।
वही, पृ.53।
16. वही, पृ.58।
17. वही, पृ.72।
18. वही, पृ.77।
19. वही, पृ.58।
20. जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया।...स्वयं डॉ. ग्रियर्सन का अनुमान है कि यह ईसाइयत की देन है। यह बात अत्यंत उपहासास्पद है और यह बात और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिंदू मंदिरों को नष्ट करने लगे तो निराश होकर हिंदू लोग भजन भाव में जुट गए।...असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है।
वही, पृ.71।
21. वही, पृ.58।
22. अनेक संतकवि जन्म से मुसलमान थे, फिर भी उनका दृष्टिकोण, उनके संस्कार, उनकी विचारधारा, साधना-पद्धति एवं अभिव्यंजनाशैली विशुद्ध भारतीय थी।
वही।
23. वही, पृ.61
24. वही, पृ.63
25. आलोचना, अंक 6263, पृ.115
26. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.83
27. “आचार्य शुक्ल का यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण था कि एक ओर वे तुलसी, सूर की रचनाओं को उत्कृष्ट साहित्य की कोटि में रखते थे तो दूसरी ओर वे जैन मुनियों, सिद्धों व नाथ-पंथियों के साहित्य को सांप्रदायिक शिक्षा मात्र मानते थे”

- हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्यइंद्रनाथ मदान, पृ.98
28. हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य चिंतन : डॉ. शशि पाण्डेय, पृ.44
29. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.556
30. वही, पृ.557
31. वही, पृ.61
32. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ.11
33. संतों और भक्तों के साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए उनकी परंपराओं, साधना पद्धतियों, उनके जीवनदृष्टिकोण तथा भीतरी सांप्रदायिक वातावरण का ज्ञान अपेक्षित था। इसके अभाव में उनके संबंध में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो सकती थीं। और वस्तुतः ऐसा हुआ भी। इतिहासकार के रूप में आचार्य द्विवेदी का योगदान : लेखडॉ. गणपति चंद्र गुप्त; पुस्तकआचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्यइंद्रनाथ मदान, पृ.99
34. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग3, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.67
35. वही, पृ.67
36. वही, पृ.65
37. ज्ञान जो किसी समय प्रत्यक्ष साधना और तन्मय जीवन से उपलब्ध हुआ था, उत्तरकालीन टीकाकारों और ग्रंथकारों के लिए बहस की चीज रह गया। इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थानत्रयी अर्थात् बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता का सहारा लेना पड़ा। ईसा की पहली सहस्राब्दी में ही इस मनोभाव ने जड़ जमा ली थी और यह उत्तरोत्तर बढ़मूल होता गया। यह चिंतापारतन्त्र्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था।
वही, पृ.41
38. वही, पृ.70
39. हरप्रसाद शास्त्री के मत से संध्या भाषा का मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आए और कुछ अस्पष्ट दीखे, पर ज्ञान-दीपक से जिसका सब कुछ स्पष्ट हो जाए।
वही, पृ.63
40. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, समालोचना, निबंध और पत्रकारिता, सं. सुधांशु, पृ.229
41. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : भाग5, पृ.434
42. इतिहासकार के रूप में आचार्य द्विवेदी का योगदान: लेखडॉ. गणपति चंद्र गुप्त; पुस्तकआचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्यइंद्रनाथ मदान, पृ.103

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिन्तन-सृजन के वर्ष-6 अंक-4 में डॉ. सत्यमित्र दूबे का “मार्क्स गाँधी और लोहिया” शीर्षक लेख पढ़ा जो अन्दर से झकझोर गया। सचमुच यह दो शताब्दियों की वैश्विक वैचारिकी का एक गूढ आकलन था। डा. दूबे की स्थापना का मूल बिन्दु डा. लोहिया के वैचारिकी के इस स्पष्टीकरण में है कि कोई विचार सतत गतिशीलता से प्राणवान होता है। डॉ. लोहिया इसी संदर्भ में न अपने को मार्क्सवादी मानते हैं और न गाँधीवादी। इतना ही नहीं वे अपने को इनका विरोधी भी नहीं मानते। डॉ. दूबे का लेख छोटा है मगर बहुत सारगर्भित है। इसमें वे योरूप वैचारिकी के हृदयस्थल जर्मनी में वर्न्सटीन, काउत्सकी, सुमाखर और होव्ल्ट की वैचारिक बिन्दुओं पर उठाये सवालों की पृष्ठभूमि में समाजवाद के सृजनात्मक विकास की अनदेखी को सामने लाते हैं। दुनिया 70 साल बाद रूसी क्रान्ति के दुःस्वप्न से उबरने के बाद आज वहाँ से फिर चेतावनी लेने को मजबूर है। डाक्टर साहब ने एक साथ रूसी क्रान्ति, फासिस्ट एवं नाजी अभियान की विसंगतियों को दुःस्वप्न में बदलने का रेखाचित्र इतने कम शब्दों में पेश किया है कि वह न सचमुच केवल मनन के लिए वरन बहस के लिए भी आमंत्रण देता है।

लासाल के विराट व्यक्तित्व और जर्मन सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक पार्टी का इतना विशाल संगठन, नाजी आन्दोलन के सामने जिस तरह घ्वस्त हुआ उसमें मात्र इच्छाशक्ति, साहस की कमी और मन्दी ही काम कर रही थी या जर्मनी का एकीकरण, बिस्मार्क की जर्मनी एकता की गूँज की अपरिहार्य अद्वितीयता की स्वप्नवत विरासत भी थी?

इन संदर्भों में एक गुलाम देश का वालन्टियर जिस गुंफन से आवेशित था उसका प्रस्तुतन निःसंदेह नये धरातल पर होना अनिवार्य था। भारतीय समाजवाद में एकता एवं विचार बिन्दु के प्रथम साक्षात्कार का अभाव था। दूसरा, अपनी परिस्थिति, अविदेशी नुस्खों पर सांगोपांग गंभीर विचार करने का साहस और विवेक नहीं था। इसी कमी को डा. लोहिया ने पूरा करने का काम किया। उन्होंने गाँधी के तकली चरखा को खारिज किया तो साम्यवाद और पूँजीवाद की बड़ी मशीनों को भी खारिज किया। इसके पीछे एशिया, अफ्रिका की श्रम बाहुल्यता एवं पूँजी की कमी एक बड़ा कारण रही। डा. दूबे ने इस पेंच को इस लेख में स्पष्ट नहीं किया है। इतिहास के एक रेखीय विकास को खारिज करते हुए डा. साहब एक नई बात करते हैं। आज चीन और भारत का समाज चहक रहा है और योरप सिकुड़ रहा है। ऐसी स्थिति में निश्चित तौर पर मार्क्स ही नहीं

माल्थस और कीन्स भी असफल हो रहे हैं। हमारी जनसंख्या में जवान लोगों की फौज की कार्यशील क्षमता को पेशेवरों से ज्यादा बढ़ाने की गुंजाइश है।

डाक्टर साहब पश्चिमी समाजवाद में शेयर, आयात-निर्यात प्रविधि के साथ एक बड़े मध्यम वर्ग के रूपान्तरण में समाज का उदय देख रहे हैं। अपने देश और चीन का ऐसा रूपान्तरण भी देख रहे हैं। आज विश्व में चावेज और लूला भी कुछ सवाल उठा रहे हैं और उनका मूल स्वर **इण्डिजेनश एस्पीरेशन्स** पर जोर दे रहा है। इस तन्त्र में जो लोहिया चिन्तन की साधारण प्रक्रिया रही है उसे जोड़कर देखना समीचीन होगा। मंहगाई, उपभोक्ता सांस्कृतिक बनावट, मन्दी का स्तर व स्वर कुछ सवाल उठा रहे हैं और कुछ जबाब दे रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में डा. लोहिया का राज्य सरकार के बारे में जो विचार है वह मनन योग्य है।

श्री दीना नाथ शास्त्री, ग्राम-शेरपुर, जिला-गाजीपुर (उ.प्र.)

प्रोफेसर सत्यमित्र दुबे ने डा. लोहिया की जन्म शताब्दी समारोह के अवसर पर दिल्ली के मावलंकर सभागार में 'मार्क्स, गाँधी और लोहिया पर भाषण दिया था, उसी का संशोधित पाठ 'चिन्तन-सृजन' पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। लेख काफी शोधपूर्ण एवं गहन अध्ययन के पश्चात प्रकाशनार्थ भेजा गया। लेख में स्पष्ट उल्लेखित है कि डॉ. लोहिया के समाजवादी चिन्तन में मार्क्स और गाँधी का कितना प्रभाव पड़ा है। डॉ. लोहिया के जर्मन प्रवास काल के समय में लोकतंत्र, मार्क्सवाद, नाजीवाद, फासीवाद, साम्यवाद और समाजवाद पर व्यापक चर्चा छिड़ रही थी। यूरोप बौद्धिक चिन्तन, सामाजिक प्रणाली, राजनीतिक प्रणाली और दलीय प्रणाली के संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। सारे यूरोप में, विशेष कर जर्मनी और इंग्लैण्ड में, मार्क्सवाद, साम्यवाद और समाजवाद एवं बोलशेविक क्रान्ति पर गंभीर तर्कपूर्ण और तथ्य पर आधारित बहस चल रही थी। उसका डॉ. लोहिया के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसी के बाद देश-विदेश में साम्यवादियों ने लोहिया को मार्क्सवादी नहीं माना और विरोधी ही घोषित किया। परन्तु बुद्धिजीवी वर्ग ने उनको न तो मार्क्सवादी माना और न विरोधी ही माना। इसी प्रकार वह न तो गाँधीवादी थे और न गाँधी के विरोधी ही, जबकि वे गाँधी जी को मार्क्स की तुलना में अधिक यथार्थवादी और व्यावहारिक मानते थे। इसका कारण है कि उनके सिद्धांत, दर्शन, कार्यक्रम और दर्शन प्रणाली दोनों से काफी भिन्न है। उनकी धारणा थी कि दोनों के विचारों में समय, स्थान और आवश्यकता के अनुसार भी परिवर्तन की आवश्यकता है। डॉ. लोहिया के विचार, इक्कीसवीं शताब्दी में भी प्रासंगिक हैं। प्रोफेसर दुबे ने विभिन्न ग्रन्थों के अलोड़न करके समयोचित भावना उपस्थित करके भारी ऐतिहासिक सेवा की है।

**डॉ. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, पूर्व अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग (का. वि.),
2024 एटीएस विलेज, सेक्टर 93ए, नोएडा।**

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च 09 अंक मिला। बहुत कुछ पढ़ गया। चिन्तन-सृजन से भरपूर रचनाओं को पढ़ने के लिए भरपूर मेधा और समय चाहिए जिन्हें जुगाली करते हुए पढ़ा जा सके। सबसे पहले मैं अपने उस भूल के लिए क्षमा चाहता हूँ प्रो. रमेशचन्द्र शाह से कि न जाने कैसे लिखने में या कि छपने या अनजाने में मुझसे यह भारी त्रुटि हो गई कि मैंने ‘पाठकीय प्रतिक्रिया’ शीर्षक के अन्तर्गत उन्हें प्रगतिवादी कह दिया। (पृ. 118 पर)। यह लेखनगत खलन है। भारी खलन के लिए माफी चाहता हूँ। दरअसल उन्हें मैं गुरु मानता हूँ। प्रणाम करता हूँ। आदरणीया महाश्वेता देवी के प्रगतिवादी मानसिकता और विचार पर मेरी वह टिप्पणी है न कि प्रो. शाह के विचार पर। मैं वर्षों से प्रो. शाह को जानता हूँ। वे मेरे लिए प्रेरणास्पद हैं। पता नहीं ऐसी भूल कैसे हो गई? कृपया उसे सुधार कर छापेंगे। मैं लज्जित हूँ।

आपने सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में हिन्द स्वराज एवं डॉ. लोहिया को केन्द्रित करते हुए जो लिखा है जो आलेख छापे हैं वे सब और पत्रिका में समाहित सारे आलेख आपके उन गहरे लगावों के परिचायक हैं, जो आपने गाँधी और लोहिया के लिए लिखे हैं—गाँधी और लोहिया मौलिक चिन्तक थे जो इन दुष्प्रभावों से मुक्त थे। दोनों की भारतीय राष्ट्र, इसके लोग, जमीन, भाषा एवं संस्कृति से गहरा लगाव था। दोनों की भारतीयता एवं मानवीयता के प्रति समान प्रतिबद्धता थी। उनकी भारतीयता एवं विश्व नागरिकता में कोई द्वैध नहीं था।” (पृ. 5) वस्तुतः चिन्तकों के द्वारा वे युगों तक याद किये जायेंगे। श्री ए.सी. सिन्हा का लेख नेपाली समस्या का अच्छा-खासा खुलासा है। उसे माओतंत्र की गोद में जाने से बचाने के लिए भारत सरकार को अवसर का लाभ उठाना चाहिए।

**आचार्य डॉ. शोभकांत झा, संयोजक,
छत्तीसगढ़ प्रदेश आचार्यकुल, संतोषी चौक, कुशालपुर, रायपुर (छ.ग.)**

जिस पुस्तक का आमुख (लेखक डा. लोकेश चन्द्र) इतना चिन्तन-परक है वह पुस्तक कैसी होगी इसका अनुमान किया जा सकता है।

मुझे ईर्ष्या होती है डॉ. शंकर शरण से। वे ऐसे श्रमसाध्य गम्भीर लेख कैसे लिख लेते हैं। उन्होंने सूफियों की असलियत पाठकों के सामने खोलकर रख दी है। सच में ये मीठी छुरी थे। सर्वश्री सत्यमित्र दुबे, डा. सरोज कुमार अम्बष्ट, यशदेव शल्य और ए.सी. सिन्हा के लेख भी स्तरीय हैं। मैं भाई कमला जी से सहमत नहीं हूँ, तथापि मुझे भी ऐसा लगता है कि पूरे अंक में साहित्यिक स्तर की कोई ऐसी सोदेश्य रचना रहनी चाहिए जो कि सहज बोधगम्य और रोचक हो।

डा. रमानाथ त्रिपाठी, 26, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034.

आप बहुत समृद्ध और संस्कृतिनिष्ठ अंक निकाल रहे हैं। आपके संपादन में 'चिन्तन-सृजन' मूल्य आधारित साहित्यिक रचनाओं की एकमात्र पत्रिका बन चुकी है।

- डॉ. श्रीराम परिहार, प्राचार्य, श्री नीलकण्ठेश्वर शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खण्डवा-450001.

'चिन्तन-सृजन' निरंतर मिल रहा है। निरंतर ही श्रेष्ठ वैचारिकी से परिचित होने का अवसर आपके कारण उपलब्ध हो रहा है। हृदय से कृतज्ञ हूँ। आपने अपनी वैचारिक शक्ति और सन्तुलित विवेक के बाल पर इसे हिन्दी जाति की अपने तरह की अलग पत्रिका बनाने में सफलता अर्जित की है।

- राम स्वरूप दीक्षित, सिद्ध बाबा कालोनी, टीकमगढ़-472001.

'चिन्तन-सृजन' 6:4 मिला। सदैव की भाँति भेदक और वैचारिक उष्मा देनेवाला यह अंक आद्योपान्त पढ़ गया। शंकर शरण का लेख सूफियों के सत्य का निदर्शक है। अपने साहस और भंगिमा दोनों दृष्टि से वे आज के समय में अद्वितीय हैं। चिन्तन-सृजन जैसे बौद्धिक-प्रयास का आज के अगंभीर समय में अपनी यात्रा के छह वर्ष पार करना एक अद्भूत आनंद की बात है। प्रभु ने इस के निमित्त का यश आपको सौंपा; इस हेतु बधाई। संपादकीय में आपने ठीक ही लिखा है कि जनता आर्थिक सशक्तिकरण चाहती है; भीख नहीं। परन्तु सत्ता की नीति भीख देने से भिन्न नहीं है। पेंशन पानेवाला एक भी स्वतंत्रता-सेनानी ऐसा नहीं था जिसने कांग्रेस को देश हित विरोधी काम के लिए कभी रोका हो। पेंशन-प्रेम ने इन के देश प्रेम को दबा दिया।

- डॉ. कृष्ण चन्द्र गोस्वामी "श्री निकुंज" बी-90, जवाहर नगर, भरतपुर (राजस्थान)

'चिन्तन-सृजन', जनवरी-मार्च 2009 अंक में श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' लिखित "आधुनिकतावादी भारतीय बौद्धिकों की बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा: दर्शन के क्षेत्र में फैला अज्ञान" प्रकाशित करने के लिए आपको शत-शत साधुवाद! बहुत दिनों बाद इतना विचारोत्तेजक, ज्ञानवर्द्धक और सामयिक लेख पढ़ने के लिए मिला। दो दर्शन शास्त्रियों की बौद्धिक भ्रान्तियों के बहाने स्वतंत्र भारत में बौद्धिक पराधीनता की वृहत्तर स्थिति पर 'पंकज' जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। अपने सधे स्वर, गंभीर अवलोकन और निर्भीक विश्लेषण से उन्होंने सीमित स्थान में अनेकानेक सत्यों का उद्घाटन किया है। संपूर्ण विश्व की ऐतिहासिक-बौद्धिक पृष्ठभूमि में भारतीय दार्शनिक चिंतन, निकटवर्ती इतिहास, पाश्चात्य बौद्धिक प्रवृत्तियाँ, स्वतंत्र भारत की राजनीतिक-संवैधानिक अवस्थिति आदि का इतना सूत्रबद्ध, प्रखर अनुशीलन आज की भारतीय बौद्धिकता में एक दुर्लभ पाठ्य-सामग्री है। काश! इसे समाज अध्ययन,

मानविकी विषयों के सभी प्रबुद्ध विद्यार्थी और प्राध्यापक पढ़ पाते। उन्हें इसका किंचित भान तो होता ही कि जिन पाठ्य-क्रमों, पुस्तकों, विचारों का वे प्रमुख ज्ञान सामग्री समझ कर अध्ययन करते रहे हैं - उनका वास्तविक स्थान ज्ञान-जगत में क्या है। जो लोग इस बात को जानते समझते हैं, उनमें से अधिकांश या तो बौद्धिक भीरुता अथवा सरकारी, गैर-सरकारी, सत्ता-प्रदत्त सुख-सुविधा से वंचित होने की आशंका से मुँह नहीं खोलते। यह तो हम अपने जीवन में बौद्धिक, शैक्षिक, राजनीतिक प्रसंगों में नियमित रूप से देखते हैं। 'पंकज' जी जैसे समर्थ चिंतक विश्लेषक की बातों पर प्रतिष्ठान स्थापित विद्वानों, आलोचकों, संपादकों का मौन रखना, मुँह चुराना या लांछन-कुतर्क संकेत कर इतिश्री कर लेना भी उसी क्रम का उदाहरण है। आशा है, 'चिन्तन-सृजन' श्री रामेश्वर मिश्र "पंकज" से अधिकाधिक लेखन का आग्रह करेगा, ताकि दशकों के अध्ययन, अवलोकन, चिंतन और अनुभव से संपृक्त मूल्यवान पाठ्य सामग्री पाठकों को निरंतर मिल सके। एक बार पुनः इस लेख के प्रकाशन के लिए बधाई और आभार।

- डॉ. शंकर शरण, नई दिल्ली।

प्रेमचंद जयनती के उपलब्ध में मैं फारबिस गंज, (उत्तर बिहार, रेणुजी का अंचल) आमंत्रित था। कवि वरुण कुमार तिवारी ने मुझे 'चिन्तन-सृजन' 2009 अंक उपलब्ध कराया था।

यह पत्रिका अपने नाम के सर्वथा अनुकूल है। कुछ ही आलेखों को पढ़ पाया हूँ। सम्पादकीय में व्यक्त आपके विचारों से सहमत हूँ। क्षेत्रीय दल देश की एकता, अखंडता के लिए खतरा हैं। आखिर, हम इतिहास से कब सबक लेंगे। आरम्भ में भाजपा से कुछ आशा थी। दुर्भाग्य है कि वाजपेयीजी के स्तर का एक भी नेता भाजपा में नहीं है। भाजपा में कुर्सी का प्रचंड लोभ है। वाजपेयीजी को आडवाणी ने अलग-थलग कर दिया था। प्रधान मंत्री बनने का उनका सपना अब शायद ही पूरा हो! नए राज्यों की मांग घातक है। सौदेबाजी की राजनीति देश की संप्रभुता को चुनौती है। अधिक राज्यों की मांग का तात्पर्य अधिक मंत्री, मुख्य मंत्री तथा मलाई उड़ाना है। देश पर संकट के गहरे बादल छाए हैं। भारत चारों ओर से शत्रुओं से घिरा है। सबसे बड़ा खतरा चीन से है। अब म्यांमार (बर्मा) भी परमाणु शक्ति संपन्न देश बनने के फेर में है। पाकिस्तान की तो बुनियाद ही घृणा और प्रतिशोध की राजनीति पर टिकी है। 'वर्णजाति प्रथा' पर लोकेशचन्द्र जी से सहमत होना असंभव है। इसकी प्रासंगिकता शताब्दियों पूर्व समाप्त हो गयी थी। जाति-प्रथा मानवता का अभिशाप है। "सूफीवाद: दर्शन और राजनीति" पर शंकर शरण का लेख इस अंक की विशेष उपलब्धि है। मैं उनके विचारों से पूर्णतया सहमत हूँ। इस लेख का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार होना चाहिए। 'प्रतिक्रिया' में अधिक लिखने की कहां गुंजाइश रहती है?

शंकर शरणजी को साधुवाद! दिनकरजी का सही मूल्यांकन अभी शेष है। उन्हें राष्ट्रीय धारा का कवि बता कर हाशिए पर फेंक दिया गया। राष्ट्रीय धारा के अन्य कवियों के साथ भी यही हुआ है। दिनकरजी 'अपने समय के सूर्य' थे। शिविर-बद्धता तथा फतवेबाज आलोचकों ने हिन्दी साहित्य का बड़ा अहित किया है।

**श्रीनिवास शर्मा, छपते छपते हिन्दी दैनिक,
26 सी. क्रीक रो, कलकता-700014 (प. बंगाल)**

'चिन्तन-सृजन', जन-मार्च 09 अंक पढ़कर ऐसी लगा कि यह पत्रिका निरंतर सृजन-अनुसंधान में लगकर ठोस और मौलिक स्थापनाएँ देती है। "चुनाव, हिंद स्वराज एवं डॉ. लोहिया" में संपादक ने गाँधी और लोहिया के देश, हिंद स्वराज के प्रति समर्पण, निष्ठा और प्रतिबद्धता का उल्लेख करते हुए चिंता प्रकट की है कि राजनीति के अपराधीकरण और मतदाताओं के मवेशीकरण ने भारत की दुर्दशा की है। आज न लोहिया हैं न गाँधी जी और न उनके आदर्शों और संकल्पों पर चलनेवाले। हाँ उनके नाम की दुहाई दे सब कुछ चलाना है। उनका मानना है: "गाँधी जीवित होते तो, आजाद भारत की राजनीति इतनी संवेदनहीन नहीं होती और न स्वार्थी तत्त्वों का सिद्धान्तहीन वर्चस्व इतना व्यापक होता" (पृ. 8)। अजंता के संश्लेषोत्कर्ष पर लोकेश चन्द्र का लेख शोधपरक और विचारोत्तेजक है। "चित्रांकन देवत्व का आह्वान है। पृथिवी और अंतरिक्ष की अनन्तता में नदी और पर्वत के हृदय में सचेत चित्र कर्म का एक चरण यदि गुहा के अंदर है तो दूसरा चरण मनोदर्शन द्वारा विश्व को रूपायित करने में लगे स्वप्नों में स्थित है।" यह है अजंता के पेंटिंग और मूर्ति कला की रहस्य-साधना। नरेन्द्र कोहली ने 'एक पुस्तक के बहाने' गीता की महत्ता और उपयोगिता का विवेचन किया है। सभी रचनाएँ संपादकीय नीरक्षीर विवेक की परिणति हैं। साधुवाद के शब्द नहीं हैं।

'चिन्तन-सृजन' (अप्रैल-जून 09) में सभी लेख प्रामाणिक, शोधोजीव्य और अनुभव प्रसूत होते हैं। यहाँ वाग्जाल, वाग्विलास भर न होकर विषय पर गंभीर चिंतन किया जाता है फिर सृजन होता है। संपादक का कहना (वर्तमान चुनाव और उसके नतीजे पर) अतीत की ओर प्रत्यावर्तन करते हुए सत्याश्रित और प्रासंगिक है। 2009 के चुनाव में जनादेश अपराधियों के खिलाफ रहा। 23 भीषण अपराधी बिहार में मुँह के बल गिर गए। मायावती ने भी अपराधियों को प्रश्रय दिया, उसका प्रतिनिधित्व (बसपा) घट गया सदन में। फिर अंतिम पारा में नरेगा की खामियों का पर्दाफाश भी हुआ है। डॉ. अंबष्ट ने अपने लेख में बताया है: भगवान बुद्ध ने जिस लोकतंत्रकी हिमायत की थी, उसका लक्ष्य था - मिलो, संवाद करो और उस समय तक संवाद करो जब तक सम्मेलित बन जाए। महात्मा गाँधी यही बात हिंद स्वराज और अहिंसात्मक आंदोलन में कहना चाहते हैं। ... यह आदर्श भले न हो, पर जनता की जागरूकता,

देश के प्रति निष्ठा से यह संभव है। गोरखालैंड के गोरखधंधे के पर्दाफास में डॉ. सिन्हा ने वहाँ की राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक स्थितियों का ध्यान रखा है। डॉ. शल्य कला का साध्य सौंदर्य न मानकर सत्य की साधना मानते हैं। सत्य के बिना सौंदर्य का क्या अभिप्राय रह जाएगा?

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, वृंदावन, मनोरमा नगर,
एल.सी. रोड, धनबाद-826001.

आस्था भारती का जनवरी-मार्च अंक मिला, धन्यवाद। चिन्तन-सृजन वास्तव में चिन्तन और सृजन को नया आयाम दे रही है। आपने सम्पादकीय में लोहिया जी पर जो ज्ञानवर्द्धक सामग्री दी है वह संग्रहणीय है। परम विद्वान और एक बहुत ही अच्छे ईन्सान श्री लोकेश जी का लेख श्री बाबूराम वर्मा के अनुवाद द्वारा बहुत सुन्दर और प्रभावी बन पड़ा है। श्री वर्मा बहुत पुराने विद्वान अनुवादक हैं। उनकी अनुवाद प्रतिभा साफ झलकती है। नेपाल पर सिन्हा जी की कलम से निकली प्रामाणिक जानकारी बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस अंक के जितने भी लेखक और उनकी रचनाएँ हैं वे उत्कृष्ट कोटि के हैं। आशा है कि यह पत्रिका इसी प्रकार साहित्य जगत में अपना ऊँचा स्थान बनाये रखेगी।

- डॉ. जे.पी. नौटियाल, सहायक जनरल मैनेजर,
क्रेडिट कार्ड, कार्पोरेशन बैंक, मुख्यालय, मैंगलौर-575001(कर्नाटक)

‘चिंतन सृजन’ का अप्रैल-जून 2009 का अंक मिला। हमेशा की तरह गंभीर एवं चिन्तनपरक आलेखों से समृद्ध है यह अंक। विशेषकर सत्यमित्र दुवे और शंकर शरण के लेख मननीय हैं। नेहरूवादी चिंतन पद्धति ने देश को आज भी वैचारिक भ्रम में उलझा रखा है। गंगा जमुनी संस्कृति, धर्म निरपेक्षता, साम्प्रदायिकता जैसे बासी एवं सड़े गले शब्द आज भी पश्चिम के गुलाम बुद्धिजीवियों (तथाकथित) के दिमागसे निकल नहीं रहे हैं या अकादमिक संस्थाओं में वर्चस्व बनाये रखने के लिए वे इसे आवश्यक मानते हैं। वर्तमान राजनीति को भी यह रास आता है। शंकर शरण का लेख ऐसे लोगों के लिए आईना है पर ये उसमें देखें तब तो। मुझे तो सूफी कवि नूर मुहम्मद को एक पंक्ति याद आ रही है- ‘हिन्दू मग पर पाँव न राख्यौं, का बहुते जो हिन्दी भाख्यौं।’ इसमें छिपे आशय को समझना चाहिए।

आप निरंतर ‘सच’ का सामना कराते रहते हैं, आपको पुनः नमस्कार। भाई वेखबरजी के सुझाव से आप बेखबर ही रहें। सर्जनात्मक पत्रिकाएँ बहुत हैं।

- डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त, सम्पादक: ‘समन्वय’;
प्रोफेसर: हिन्दी विभाग, दी.द.उ.गो.वि.वि., गोरखपुर।

‘चिंतन सृजन’ पर सामान्यजन संदेश, वर्ष 22, अंक 85, अप्रैल-मई-जून - 2009, लोहिया अध्ययन केन्द्र, नागपुर के विचार

इस पत्रिका के संपादकीय में हाल ही में हुए लोकसभा चुनाव, डॉ. राममनोहर लोहिया की जन्म शताब्दी तथा हिंदू स्वराज की शताब्दी पर सार्थक बहस को जन्म दिया गया है। डॉ. लोहिया के राम, कृष्ण, शिव संबंधी विचारों की उदात्त, भारतीय इतिहास लेखन की विडंबनापूर्ण स्थिति की समझ को उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह चिंता भी जताई गई है कि लोहिया के शिष्य उनके विचारों/कार्यक्रमों को असंगत विकृत सीमाओं तक ले गए। संपादक का कहना है कि लोहिया का गतिशील नेतृत्व कांग्रेस विरोध की गठजोड़ की राजनीति को सिद्धांतहीनता एवं अवसरवादिता की इस सीमा तक निर्विरोध नहीं जाने देता। वर्णमाला, भाषा और शिक्षा पर डॉ. राममनोहर लोहिया का आलेख महत्वपूर्ण है। लोकेशचंद्र का लेख ‘लोक सौंदर्य और लोकोत्तर ऐश्वर्य का संश्लेषोत्कर्ष अजंता’, ए.सी. सिन्हा के ‘नेपाल में नाटकीय पटाक्षेप’, महात्मा गाँधी का छुटकारा, महीप सिंह का लेख ‘अलबेला फकीर था साईं बुंदेलशाह’ जानकारीयुक्त ज्ञानवर्द्धक और नई दिशा देनेवाले हैं।



DIALOGUE

Quarterly English Journal of
Astha Bharati, Delhi

41 issues published uptil now (Sept – 2009)

Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia
Fiscal Mismanagement in North East India
Maoist Insurgency in Nepal and India
India: Security Dimensions,
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
South-East Asia
Secularism: India in Labyrinth
India's Neighbourhood
Governance in the North-East
Policing in India
India and Central Asia
Population Issues
Naxalism
Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Media in India
India's North East
India: Political Culture, Governance & Growth
Understanding India
India: The Internal Security
Education in India
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Caste, Community and Social Justice
India's Encounter with the West
India: Security Scene
Kashmir
Bangladesh
India's North-East
Himalayan Region
India's Neighbourhood

36 back issues of Dialogue are available for supply at following rates:

- (a) Individuals - Rs. 500/- + postage/parcel
(b) Institutions – Rs. 1000/- + postage /parcel.

Payment in advance by Cheque/DD (in name of Astha Bharati)/ cash.
Postage/parcel charges will be extra by V.P.P. or courier as desired.

आस्था भारती, दिल्ली

अध्यक्ष :

डॉ. जयन्त माधव

अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक,
पूर्व अध्यक्ष, पूर्वोत्तर विकास वित्त निगम

सचिव :

डॉ. ब्रज बिहारी कुमार

कोषाध्यक्ष :

श्री जे.एन. राय

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
पूर्व आयुक्त, नागरिक उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली

सदस्य, शासी परिषद :

1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**

पूर्व कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग

2. **प्रोफेसर के. के. नारायण कुरुप**

पूर्व कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय

3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**

पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय

4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**

पूर्व कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय

5. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**

पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक,
दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया अध्ययन केन्द्र,
मद्रास विश्वविद्यालय

6. **श्री प्रकाश सिंह**

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
पूर्व महानिदेशक, सीमा सुरक्षा बल,
पूर्व आरक्षी महानिदेशक, उत्तर-प्रदेश, असम

7. **श्री राजेश भार्गव**

इंजीनियर, व्यवसाय

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office

**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi- 110002**

